"उपाध्याय
श्रीमद् वीरविजयजी महाराज"

जन्म सं० १९०८ स्वर्गवास सं० १९७५

सामान्य सूची।

सूचना।

पाठक महोदय ! आप इस पुस्तकके आरंभ में जिनका फोटो देख रहे हैं वे हैं परम पूजनीय प्रातः स्मरणीय उपाध्याय श्री वीरविजयजी महाराज। आपका स्वर्गवास वि० सं० १९७५ मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी को खंभात (गुजरात) में हुआ। आपने अपने उपदेश व चारित्र के प्रभाव से जैन समाज का बडा भारी उपकार किया है। इस लिये आप के स्मरणार्थ कर्म विषयक यह छोटीसी-किन्तु महत्त्वपूर्ण किताब प्रकाशित की जाती है। इस की छपवाई आदि में कलकत्ता श्री जैन श्वेताम्बर संघ ने आर्थिक सहायता दी है। एतदर्थ हम संघ के कृतज्ञ हैं। आगे के कर्मग्रन्थों के अनुवाद भी हो रहे हैं। हम प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रन्थों को हिन्दी भाषा मे सुलभ करने की फिक्र में हैं। इस काम में विद्वान और श्रीमान् के सहयोग की पूर्ण अपेक्षा है। जो धनवान इस पवित्र कार्य में अपने धन का सदुपयोग करना चाहें वे हमे सूचित करें ताकि आगे के ग्रन्थों को प्रकाशित करने में उन के धन का सदुपयोग किया जा सके।

श्री आत्मानंद
पुस्तक प्रचारक मण्डल,
रोशन मुहल्ला-आगरा.

आपका—
मंत्री।

वक्तव्य ।

यह बन्धस्वामित्व नामक तीसरा कर्मग्रन्थ हिन्दी-अनुवाद-सहित पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जाता है । यह ग्रन्थ प्रमाण में छोटा होने पर भी विषय-दृष्टि से गंभीर और महत्त्वपूर्ण है । अगले कर्मग्रन्थ और पञ्चसंग्रह आदि आकर ग्रन्थों में प्रवेश करने के लिये जिज्ञासुओं को इस का पढ़ना आवश्यक है ।

संकलन-क्रम । शुरूमें एक प्रस्तावना दी गई है जिसमें पहले ग्रन्थका विषय बतलाया है । अनन्तर मार्गणा और गुणस्थान का यथार्थ स्वरूप समझाने के लिये उन पर कुछ विचार प्रकट किये हैं तथा उन दोनों का पारस्परिक अन्तर भी दिखाया है । इस के बाद यह दिखाया है कि तीसरे कर्मग्रन्थ का पूर्व कर्मग्रन्थों के साथ क्या संबन्ध है । अनन्तर, तीसरे कर्मग्रन्थ के अभ्यास के लिये दूसरे कर्मग्रन्थ के अभ्यास की आवश्यकता जनाने के बाद प्राचीन-नवीन तीसरे कर्मग्रन्थ की तुलना की है, जिससे पाठकों को यह बोध हो कि किस में कौनसा विषय अधिक, न्यून और किस रूपमें वर्णित है । प्रस्तावना के बाद तीसरे कर्मग्रन्थ की विषय-सूची दी है जिससे कि गाथा और पृष्ठवार विषय मालूम होसके । तत्पश्चात् कुछ पुस्तकों के नाम दिये हैं जिन से अनुवाद, टिप्पणी आदि में सहायता ली गई है ।

इसके बाद अनुवाद–सहित मूल ग्रन्थ है। इसमें मूल गाथा के नीचे छाया है जो संस्कृत जानने वालों के लिये विशेष उपयोगी है। छाया के नीचे गाथा का सामान्य अर्थ लिख कर उसका विस्तार से भावार्थ लिखा गया है। पढ़ने वालों की सुगमता के लिये भावार्थ में यन्त्र भी यथास्थान दाखिल किये हैं। बीच बीच में जो जो विषय विचारास्पद, विवादास्पद, या संदेहास्पद आया है उस पर टिप्पणी में अलग ही विचार किया है जिससे विशेषदर्शियों को देखने व विचारने का अवसर मिले और साधारण अभ्यासिओं को मूल ग्रन्थ पढ़ने में कठिनता न हो। जहां तक हो सका, टिप्पणी आदि में विचार करते समय प्रामाणिक ग्रन्थों का हवाला दिया है और जगह २ दिगम्बर ग्रन्थों की संमति–विमति भी दिखाई है।

अनुवादके बाद तीन परिशिष्ट हैं। परिशिष्ट (क) के पहले भाग में गोम्मटसार के खास स्थलों का गाथावार निर्देश किया है जिससे अभ्यासिओं को यह मालूम हो कि तीसरे कर्मग्रन्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाले कितने स्थल गोम्मटसार में हैं और इस के लिये उसका कितना २ हिस्सा देखना चाहिये। दूसरे भागमें श्वेताम्बर-दिगम्बर शास्त्र के समान-असमान कुछ सिद्धान्तों का उल्लेख इस आशय से किया है कि दोनों संप्रदाय का तात्त्विक विषय में कितना और किस किस बात में साम्य और वैषम्य

है। प्रत्येक सिद्धान्त का संक्षेप में उल्लेख करके साथ ही उस उस टिप्पणी के पृष्ठ का नम्बर सूचित किया है जिसमें उस सिद्धान्त पर विशेष विचार किया है। तीसरे भाग में इस कर्मग्रन्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाली पञ्चसंग्रह की कुछ बातों का उल्लेख है। परिशिष्ट (ख) में मूल गाथा के प्राकृत शब्दों का संस्कृत छाया तथा हिन्दी-अर्थ-सहित कोष है। परिशिष्ट (ग) में अभ्यासिओं के सुभीते के लिये केवल मूल गाथाएँ दी हैं।

अनुवाद में कोई भी विषय शास्त्र विरुद्ध न आ जाय इस बात की ओर पूरा ध्यान दिया गया है। कहीं कहीं पूर्वापर विरोध मिटाने के लिये अन्य प्रमाण के अभाव में अपनी सम्मति प्रदर्शित की है। क्या, छोटे क्या बड़े, सब प्रकार के अभ्यासिओं के सुभीते के लिये अनुवाद का सरल पर महत्वपूर्ण विषय से अलंकृत करने की यथासाध्य कोशिश की है। तिस पर भी अज्ञात भाव से जो कुछ त्रुटि रह गई हो उसे उदार पाठक संशोधित कर लेवें और हमें सूचना देने की कृपा करें ताकि दूसरी आवृत्ति में सुधार हो जाय।

निवेदक—वीरपुत्र।

प्रस्तावना

विषय—मार्गणाओं में गुणस्थानों को लेकर बन्ध-स्वामित्व का वर्णन इस कर्मग्रन्थ में किया है; अर्थात् किस किस मार्गणा में कितने कितने गुणस्थानों का संभव है और प्रत्येक-मार्गणा-वर्ती जीवों की सामान्य-रूप से तथा गुणस्थान के विभागानुसार कर्म-बन्ध-सम्बन्धिनी कितनी योग्यता है इस का वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है।

मार्गणा, गुणस्थान और उन का पारस्परिक अन्तर।

(क) मार्गणा—संसार में जीव-राशि अनंत है। सब जीवों के बाह्य और आंतरिक जीवन की बनावट में जुदाई है। क्या डिल-डौल, क्या इन्द्रिय-रचना, क्या रूप-रंग, क्या चाल-ढाल, क्या विचार-शक्ति, क्या मनो-बल, क्या विकारजन्य भाव, क्या चारित्र, सब विषयों में जीव एक दूसरे से भिन्न हैं। यह भेद-विस्तार कर्मजन्य—औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिक—भावों पर तथा सहज पारिणामिक भाव पर अवलम्बित है। भिन्नता की गहराई इतनी ज्यादा है कि इस से सारा जगत् आप ही अजायबघर बना हुआ है। इन अनन्त भिन्नताओं को ज्ञानियों ने संक्षेप में चौदह विभागों में विभाजित किया है। चौदह विभागों के भी अवान्तर विभाग

किये हैं, जो ६२ हैं। जीवों की बाह्य-आन्तरिक-जीवन-सम्बन्धिनी अनंत भिन्नताओं के बुद्धिगम्य उक्त वर्गीकरण को शास्त्र में 'मार्गणा' कहते हैं।

(ख) गुणस्थान—मोह का प्रगाढ़तम आवरण, जीव की निकृष्टतम अवस्था है। संपूर्ण चारित्र-शक्ति का विकास—निर्मोहता और स्थिरता की पराकाष्ठा—जीव की उच्चतम अवस्था है। निकृष्टतम अवस्था से निकल कर उच्चतम अवस्था तक पहुँचने के लिये जीव मोह के परदे को क्रमशः हटाता है और अपने स्वाभाविक गुणों का विकास करता है। इस विकास-मार्ग में जीव को अनेक अवस्थायें तय करनी पड़ती हैं। जैसे थरमामिटर की नली के अङ्क, उष्णता के परिमाण को बतलाते हैं वैसे ही उक्त अनेक अवस्थायें जीव के आध्यात्मिक विकास की मात्रा को जनाती हैं। दूसरे शब्दों में इन अवस्थाओं को आध्यात्मिक विकास की परिमापक रेखायें कहना चाहिये। विकास-मार्ग की इन्हीं क्रमिक अवस्थाओं को 'गुणस्थान' कहते हैं। इन क्रमिक संख्यातीत अवस्थाओं को ज्ञानियों ने संक्षेप में १४ विभागों में विभाजित किया है। यही १४ विभाग जैन शास्त्र में '१४ गुणस्थान' कहे जाते हैं।

वैदिक साहित्य में इस प्रकार की आध्यात्मिक अवस्थाओं का वर्णन है। *पातञ्जल योग-दर्शन में ऐसी आध्या-

---

* पाद १ सू. ३६; पाद ३ सू. ४८-४९ का भाष्य; पाद १ सूत्र १की टीका।

त्मिक भूमिकाओं का <u>मधुमती</u>, <u>मधुप्रतीका</u>, <u>विशोका</u> और <u>संस्कारशेषा</u> नाम से उल्लेख किया है। † योगवासिष्ठ में अज्ञान की सात और ज्ञान की सात इस तरह चौदह चित्त-भूमिकाओं का विचार आध्यात्मिक विकास के आधार पर बहुत विस्तार से किया है।

(ग) मार्गणा और गुणस्थान का पारस्परिक अन्तर— मार्गणाओं की कल्पना कर्म-पटल के तरतमभाव पर अवलम्बित नहीं है, किन्तु जो शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक भिन्नताएँ जीव को घेरे हुए हैं वही मार्गणाओं की कल्पना का आधार है। इस के विपरीत गुणस्थानों की कल्पना कर्मपटल के, खास कर मोहनीय कर्म के, तरतमभाव और योग की प्रवृत्ति-निवृत्ति पर अवलम्बित है।

मार्गणाएँ जीव के विकास की सूचक नहीं हैं किन्तु वे उसके स्वाभाविक-वैभाविक रूपों का अनेक प्रकार से पृथक्करण हैं। इस से उलटा गुणस्थान, जीव के विकास के सूचक हैं; वे विकास की क्रमिक अवस्थाओं का संक्षिप्त वर्गीकरण है।

मार्गणाएँ सब सह-भाविनी हैं पर गुणस्थान क्रम-भावी। इसी कारण प्रत्येक जीव में एक साथ चौदहों मार्गणाएँ किसी

† उत्पत्ति प्रकरण-सर्ग ११७-११८-१२६, निर्वाण १२०-१२६।

न किसी प्रकार से पाई जाती हैं—सभी संसारी जीव एक ही समय में प्रत्येक मार्गणा में वर्तमान पाये जाते हैं। इस से उलटा गुणस्थान एक समय में एक जीव में एक ही पाया जाता है—एक समय में सब जीव किसी एक गुणस्थान के अधिकारी नहीं बन सकते, किन्तु उन का कुछ भाग ही एक समय में एक गुणस्थान का अधिकारी होता है। इसी बात को योंभी कह सकते हैं कि एक जीव एक समय में किसी एक गुणस्थान में ही वर्तमान होता है परन्तु एक ही जीव एक समय में चौदहों मार्गणाओं में वर्तमान होता है।

पूर्व पूर्व गुणस्थान को छोड़ कर उत्तरोत्तर गुणस्थान को प्राप्त करना आध्यात्मिक विकास को बढाना है, परन्तु पूर्व पूर्व मार्गणा को छोड कर उत्तरोत्तर मार्गणा न तो प्राप्त ही की जा सकती है और न इस से आध्यात्मिक विकास ही सिद्ध होता है। विकास की तेरहवीं भूमिका तक पहुँचे हुये—कैवल्य-प्राप्त—जीव में भी कषाय के सिवाय सब मार्गणाएँ पायी जाती हैं पर गुणस्थान केवल तेरहवाँ पाया जाता है। अन्तिम-भूमिका-प्राप्त जीव में भी तीन चार को छोड़ सब मार्गणाएँ होती हैं जो कि विकास की बाधक नहीं हैं, किन्तु गुणस्थान उस में केवल चौदहवाँ होता है।

पिछले कर्मग्रन्थों के साथ तीसरे कर्मग्रन्थ की संगति—दुःख हेय है क्योंकि उसे कोई भी नहीं चाहता। दुःख का सर्वथा

नाश तभी हो सकता है जब कि उस के असली कारण का नाश किया जाय। दुःख की असली जड़ है कर्म (वासना)। इसलिए उस का विशेष परिज्ञान सब को करना चाहिये; क्योंकि कर्म का परिज्ञान विना किये न तो कर्म से छुटकारा पाया जा सकता है और न दुःख से। इसी कारण पहले कर्मग्रन्थ में कर्म के स्वरूप का तथा उस के प्रकारों का बुद्धिगम्य वर्णन किया है।

कर्म के स्वरूप और प्रकारों को जानने के बाद यह प्रश्न होता है कि क्या कदाग्रहि-सत्याग्रही, अजितेन्द्रिय-जितेन्द्रिय, अशान्त-शान्त और चपल-स्थिर सब प्रकार के जीव अपने अपने मानस-क्षेत्र में कर्म के बीज को बराबर परिमाण में ही संग्रह करते और उनके फल को चखते रहते हैं या न्यूनाधिक परिमाण में? इस प्रश्न का उत्तर दूसरे कर्मग्रन्थ में दिया गया है। गुणस्थान के अनुसार प्राणीवर्ग के चौदह विभाग कर के प्रत्येक विभाग की कर्म-विषयक बन्ध-उदय-उदीरणा-सत्ता--सम्बन्धिनी योग्यता का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार प्रत्येक गुणस्थानवाले अनेक शरीरधारियों की कर्म-बन्ध-आदि-सम्बन्धिनी योग्यता दूसरे कर्मग्रन्थ के द्वारा मालूम की जाती है इसी प्रकार एक शरीरधारी की कर्म-बन्ध-आदि-सम्बन्धिनी योग्यता, जो भिन्न भिन्न समय में आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा अपकर्ष के अनुसार बदलती रहती है उस का ज्ञान भी उस के

द्वारा किया जा सकता है। अत एव प्रत्येक विचार-शील प्राणी अपने या अन्य के आध्यात्मिक विकास के परिमाण का ज्ञान करके यह जान सकता है कि मुझ में या अन्य में किस किस प्रकार के तथा कितने कर्म के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता की योग्यता है।

उक्त प्रकार का ज्ञान होने के बाद फिर यह प्रश्न होता है कि क्या समान गुणस्थान वाले भिन्न भिन्न गति के जीव या समान गुणस्थान वाले किन्तु न्यूनाधिक इन्द्रिय वाले जीव कर्म-बन्ध की समान योग्यता वाले होते हैं या असमान योग्यता वाले? इस प्रकार यह भी प्रश्न होता है कि क्या समान गुणस्थान वाले स्थावर-जंगम जीव की या समान गुणस्थान वाले किन्तु भिन्न-भिन्न-योग-युक्त जीव की या समान गुण-स्थानवाले भिन्न-भिन्न-लिंग (वेद)—धारी जीव की या समान गुणस्थान वाले किन्तु विभिन्न कषाय वाले जीव की बन्ध-योग्यता बराबर ही होती है या न्यूनाधिक? इस तरह ज्ञान, दर्शन, संयम आदि गुणों की दृष्टि से भिन्न भिन्न प्रकार के परन्तु गुणस्थान की दृष्टि से समान प्रकार के जीवों की बन्ध-योग्यता के सम्बन्ध में कई प्रश्न उठते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर, तीसरे कर्मग्रन्थ में दिया गया है। इस में जीवों की गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय आदि चौदह अवस्थाओं को लेकर गुणस्थान-क्रम से यथा-संभव बन्ध-योग्यता दिखाई है, जो आध्यात्मिक दृष्टि वालों को बहुत मनन करने योग्य है।

दूसरे कर्मग्रन्थ के ज्ञान की अपेक्षा—दूसरे कर्मग्रन्थ में
गुणस्थानों को लेकर जीवों की कर्म-बन्ध-सम्बन्धिनी योग्यता
दिखाई है और तीसरे में मार्गणाओं को लेकर। मार्गणाओं में
सामान्य-रूप से बन्ध-योग्यता दिखाकर फिर प्रत्येक मार्गणा
में यथा-संभव गुणस्थानों को लेकर वह दिखाई गई है। इसीलिये
इन दोनों कर्मग्रन्थों के विषय भिन्न होने पर भी उनका
आपस में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि जो दूसरे कर्मग्रन्थ को
अच्छी तरह न पढ़ ले वह तीसरे का अधिकारी ही नहीं हो
सकता। अतः तीसरे के पहले दूसरे का ज्ञान कर लेना चाहिये।

प्राचीन और नवीन तीसरा कर्मग्रन्थ—ये दोनों, विषय
में समान हैं। नवीन की अपेक्षा प्राचीन में विषय-वर्णन
कुछ विस्तार से किया है; यही भेद है। इसी से नवीन में
जितना विषय २५ गाथाओं में वर्णित है उतना ही विषय
प्राचीन में ५४ गाथाओं में। ग्रन्थकार ने अभ्यासियों की
सरलता के लिए नवीन कर्मग्रन्थ की रचना में यह ध्यान रक्खा
है कि निष्प्रयोजन शब्द-विस्तार न हो और विषय पूरा आवे।
इसी लिए गति आदि मार्गणा में गुणस्थानों की संख्या का
निर्देश जैसा प्राचीन कर्मग्रन्थ में बन्ध-स्वामित्व के कथन से
अलग किया है नवीन कर्मग्रन्थ में वैसा नहीं किया है; किन्तु
यथा-संभव गुणस्थानों को लेकर बन्ध-स्वामित्व दिखाया है,
जिस से उन की संख्या को अभ्यासी आप ही जान लेवे।

नवीन कर्मग्रन्थ है संक्षिप्त, पर वह इतना पूरा है कि इस के अभ्यासी थोड़े ही में विषय को जान कर प्राचीन बन्ध-स्वामित्व को विना टीका-टिप्पणी की मदद के जान सकते हैं। इसी से पठन--पाठन में नवीन तीसरे का प्रचार है।

गोम्मटसार के साथ तुलना—तीसरे कर्मग्रन्थ का विषय कर्मकाण्ड में है, पर उस की वर्णन-शैली कुछ भिन्न है। इस के सिवाय तीसरे कर्मग्रन्थ में जो जो विषय नहीं है और दूसरे के सम्बन्ध की दृष्टि से जिस जिस विषय का वर्णन करना पढ़ने वालों के लिए लाभदायक है वह सब कर्मकाण्ड में है। तीसरे कर्मग्रन्थ में मार्गणाओं में केवल बन्ध-स्वामित्व वर्णित है, परन्तु कर्मकाण्ड में बन्ध-स्वामित्व के अतिरिक्त मार्गणाओं को लेकर उदय-स्वामित्व, उदीरणा-स्वामित्व, और सत्ता-स्वामित्व भी वर्णित है। [इस के विशेष खुलासे के लिये परि-शिष्ट (क) नं. १ देखो]। इसलिए तीसरे कर्मग्रन्थ के अभ्यासियों को उसे अवश्य देखना चाहिये। तीसरे कर्मग्रन्थ में उदय-स्वामित्व आदि का विचार इसलिए नहीं किया जान पड़ता है कि दूसरे और तीसरे कर्मग्रन्थ के पढ़ने के बाद अभ्यासी उसे स्वयं सोच लेवे। परन्तु आज कल तैयार विचार को सब जानते हैं; स्वतंत्र विचार कर विषय को जाननेवाले बहुत कम देखे जाते हैं। इसलिए कर्मकाण्ड की उक्त विशेषता से सब अभ्यासियों को लाभ उठाना चाहिये।

तीसरे कर्मग्रन्थ की विषय-सूची।

अनुवाद में प्रमाणरूपसे निर्दिष्ट पुस्तकें।

भगवती सूत्र ।

उत्तराध्ययन सूत्र । (आगमोदय समिति, सुरत)

औपपातिक सूत्र । (आगमोदय समिति, सुरत) ।

आचारांग-निर्युक्ति ।

तत्वार्थ-भाष्य ।

पञ्चसंग्रह ।

चन्द्रीय संग्रहणी ।

चौथा नवीन कर्मग्रन्थ ।

प्राचीन बन्ध-स्वामित्व (प्राचीन तीसरा कर्मग्रन्थ) ।

लोकप्रकाश ।

जीवविजयजी-टबा ।

जयसोमसूरि-टबा ।

सर्वार्थसिद्धि-टीका (पूज्यपादस्वामि-कृत)

गोम्मटसार—जीवकाण्ड तथा कर्मकाण्ड।

पातञ्जल योगसूत्र ।

योगवासिष्ठ ।

श्री देवेन्द्रसूरि विरचित

बन्धस्वामित्व नामक तीसरा कर्मग्रन्थ।

(हिन्दी-भाषानुवाद-सहित ।)

"मंगल और विषय-कथन।"

बन्धविहाणविमुक्कं, वन्दिय सिरिवद्धमाणजिणचन्दं ।
गइयाईसुं वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं ॥ १ ॥
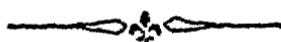
बन्धविधानविमुक्तं वन्दित्वा श्रीवर्धमानजिनचन्द्रम् ।
गत्यादिषु वक्ष्ये समासतो बन्धस्वामित्वम् ॥ १ ॥

अर्थ—भगवान् वीरजिनेश्वर जो चन्द्र के समान सौम्य हैं, तथा जो कर्म-बन्ध के विधान से निवृत्त हैं—कर्म को नहीं बाँधते—उन्हें नमस्कार करके गति आदि प्रत्येक मार्गणा में वर्त्तमान जीवों के बन्धस्वामित्व को मैं संक्षेप से कहूँगा ॥ १ ॥

भावार्थ।

बन्ध—*मिथ्यात्व आदि हेतुओं से आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म-योग्य परमाणुओं का जो सम्बन्ध, उसे बन्ध कहते हैं।

---

* देखो चौथे कर्मग्रन्थ की ५० वीं गाथा

मार्गणा—गति आदि जिन अवस्थाओं को लेकर जीव में गुणस्थान, जीवस्थान आदि की मार्गणा—विचारणा—की जाती है उन अवस्थाओं को मार्गणा कहते हैं।

मार्गणाओं के मूल *भेद १४ और उत्तर भेद ६२ हैं; जैसेः—पहली गतिमार्गणा के ४, दूसरी इन्द्रियमार्गणा के ५, तीसरी कायमार्गणा के ६, चौथी योगमार्गणा के ३, पांचवीं वेदमार्गणा के ३, छट्ठी कपायमार्गणा के ४, सातवीं ज्ञान-मार्गणा के ८, आठवीं संयममार्गणा के ७, नववीं दर्शनमार्गणा के ४, दसवीं लेश्यामार्गणा के ६, ग्यारहवीं भव्यमार्गणा के २, बारहवीं सम्यक्त्वमार्गणा के ६, तेरहवीं संज्ञिमार्गणा के २, और चौदहवीं आहारकमार्गणा के २ भेद हैं। कुल ६२ †भेद हुये

बन्धस्वामित्व—कर्मबन्ध की योगता को 'बन्धस्वा-मित्व' कहते हैं। जो जीव जितने कर्मों को बाँध सकता है वह उतने कर्मों के बन्ध का स्वामी कहलाता है ॥ १ ॥

---

* "गइ इंदिए य काये जोए वेए कसाय नाणे य।
संजम दंसण लेसा भवसम्मे सन्नि आहारे ॥ ९ ॥
(चौथा कर्मग्रन्थ)

† इन को विशेपरूपसे जानने के लिये चौथे कर्मग्रन्थ की दसवीं से चौदहवीं तक गाथायें देखो।

"संकेत के लिये उपयोगी प्रकृतियों का
दो गाथाओं में संग्रह।"

जिणसुर विउवाहार दु-देवाउय नरयसुहुम विगलतिगं।
एगिंदिथावरायव—नपुमिच्छं हुंडछेवट्ठं ॥ २ ॥

जिनसुरवैक्रियाहारकद्विकदेवायुष्क नरकसूक्ष्मविकलत्रिकम्।
एकेन्द्रियस्थावरातप नपुँमिथ्याहुण्डसेवार्तम् ॥ २ ॥

अणमज्झागिइ संघय-ण कुखग नियइत्थिदुहग थीणतिगं
उज्जोयतिरिदुगं तिरि-नराउनरउरलदुगरिसहं ॥ ३ ॥

अनमध्याकृतिसंहनन कुखग नीचस्त्रीदुर्भग स्त्यानर्द्धित्रिकम्।
उद्योततिर्यग्द्विकं तिर्यग्नरायुर्नरौदारिक द्विक ऋषभम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जिननामकर्म (१), देव-द्विक—देवगति, देव-आनुपूर्वी—(३), वैक्रिय-द्विक—वैक्रियशरीर, वैक्रियअंगोपांग—(५), आहारकद्विक—आहारकशरीर, आहारकअंगोपांग—(७), देवआयु (८), नरकत्रिक—नरकगति, नरकआनुपूर्वी, नरक-आयु—(११), सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म, अपर्याप्त, और साधारण-नामकर्म—(१४) विकलत्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय—(१७), एकेन्द्रियजाति (१८), स्थावरनामकर्म (१९), आतपनामकर्म (२०), नपुंसकवेद (२१), मिथ्यात्व (२२), हुण्डसंस्थान (२३), सेवार्तसंहनन (२४) ॥ २ ॥ अनन्तानु-बन्धि-चतुष्क—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ

(२८), मध्यमसंस्थान-चतुष्क—न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, वामन, कुब्ज—(३२), मध्यमसंहनन-चतुष्क—ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका—(३६), अशुभविहायोगति(३७), नीचगोत्र (३८), स्त्री वेद (३९), दुर्भग-त्रिक—दुर्भग, दुःस्वर, अनादेयनामकर्म—(४२), स्त्यानर्द्धि-त्रिक—निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि—(४५), उद्योतनामकर्म (४६), तिर्यञ्च-द्विक—तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चआनुपूर्वी—(४८), तिर्यञ्चआयु (४९), मनुष्य आयु, (५०), मनुष्य-द्विक—मनुष्यगति, मनुष्यआनुपूर्वी—(५२), औदारिक-द्विक—औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग—(५४), और वज्रऋषभनाराचसंहनन(५५)। इस प्रकार ५५ प्रकृतियाँ हुईं ॥ ३ ॥

भावार्थ—उक्त ५५ कर्म प्रकृतियों का विशेष उपयोग इस कर्म—ग्रन्थ में संकेत के लिये है। यह संकेत इस प्रकार है:—

किसी अभिमत प्रकृति के आगे जिस संख्या का कथन किया हो, उस प्रकृति से लेकर उतनी प्रकृतियों का ग्रहण उक्त ५५ कर्म प्रकृतियों में से किया जाता है। उदाहरणार्थ—'सुरएकोनविंशति' यह संकेत देवद्विक से लेकर आतप-पर्यन्त १९ प्रकृतियों का बोधक है ॥ २ ॥ ॥३ ॥

"चौदह मार्गणाओं में से गतिमार्गणा को लेकर नरक गति का
बन्धस्वामित्व चार गाथाओं से कहते हैं:–"

सुरइगुणवीसवज्जं, इगसउ ओहेण बंधहिं निरया।
तित्थ विणा मिच्छि सयं, सासणि नपु-चउ विणा छनुई॥४॥

सुरैकोनविंशतिवर्जमेकशतमोघेन बध्नन्ति निरयाः।
तीर्थविनामिथ्यात्वेशतं सास्वादने नपुँसकचतुष्कं विनाषण्णवतिः॥४॥

अर्थ—नारक जीव, बन्धयोग्य १२० कर्म प्रकृतियों में से १०१ कर्म प्रकृतियों को सामान्यरूप से बाँधते हैं; क्योंकि वे सुरद्विक से लेकर आतपनामकर्म-पर्यन्त १९ प्रकृतियों को नहीं बाँधते। पहले गुणस्थान में वर्त्तमान नारक १०१ में से तीर्थंकर नामकर्म को छोड़ शेष १०० प्रकृतियों को बाँधते हैं।

दूसरे गुणस्थान में वर्तमान नारक, नपुँसक आदि ४ प्रकृतियों को छोड़ कर उक्त १०० में से शेष ९६ प्रकृतियों को बाँधते हैं॥ ४॥

भावार्थ।

ओघबन्ध—किसी खास गुणस्थान या खास नरक की विवक्षा किये विना ही सब नारक जीवों का जो बन्ध कहा जाता है वह उनका 'सामान्य-बन्ध' या 'ओघ-बन्ध' कहलाता है।

विशेषबन्ध—किसी खास गुणस्थान या किसी खास नरक को लेकर नारकों में जो बन्ध कहा जाता है वह उनका 'विशेष बन्ध' कहलाता है। जैसे यह कहना कि मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती नारक १०० प्रकृतियों को बाँधते हैं इत्यादि।

इस तरह आगे अन्य मार्गणाओं में भी सामान्यबन्ध और विशेषबन्ध का मतलब समझ लेना।

नरकगति में सुरद्विक आदि १९ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, क्योंकि जिन स्थानों में उक्त १९ प्रकृतियों का उदय होता है नारक जीव नरकगति में से निकल कर उन स्थानों में नहीं उपजते। वे उदय-स्थान इस प्रकार हैं:—

वैक्रियद्विक, नरकत्रिक, देवत्रिक—इनका उदय देव तथा नारक को होता है। सूक्ष्म नामकर्म सूक्ष्मएकेन्द्रिय में; अपर्याप्त नामकर्म अपर्याप्त तिर्यंच मनुष्य में; साधारण नामकर्म साधारण वनस्पति में; एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप नामकर्म एकेन्द्रिय में और विकलत्रिक द्वीन्द्रिय आदि में उदयमान होते हैं। तथा आहारक द्विक का उदय चारित्रसम्पन्न लब्धि-धारी मुनि को होता है।

सम्यक्त्वी ही तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध के अधिकारी हैं; इसलिये मिथ्यात्वी नारक उसे बाँध नहीं सकते।

नपुंसक, मिथ्यात्व, हुण्ड और सेवार्त इन ४ प्रकृतियों को सास्वादन गुणस्थानवाले नारक जीव बाँध नहीं सकते; क्योंकि उनका बन्ध मिथ्यात्व के उदय काल में होता है, पर मिथ्यात्व का उदय सास्वादन के समय नहीं होता ॥ ४ ॥

विणु अण-छवीस मीसे, विसयरि संमंमि जिणनराउजुया।
इय रयणाइसु भंगो, पंकाइसु तित्थयरहीणो ॥ ५ ॥

विनाऽनषड्विंशतिं मिश्रे द्वासप्ततिः सम्यक्त्वे जिननरायुर्युता।
इति रत्नादिषु भंगः पङ्कादिषु तीर्थंकरहीनः ॥ ५ ॥

अर्थ—तीसरे गुणस्थान में वर्तमान नारक जीव ७० प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि पूर्वोक्त ९६ में से अनन्तानुबन्धि—चतुष्क से लेकर मनुष्य—आयु—पर्यन्त २६ प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते। चौथे गुणस्थान में वर्तमान नारक उक्त ७० तथा जिन नामकर्म और मनुष्य आयु, इन ७२ प्रकृतियों को बाँधते हैं। इस प्रकार नरकगति का यही सामान्य बन्ध-विधि रत्नप्रभा आदि तीन नरकों के नारकों को चारों गुणस्थानोंमें लागू पड़ता है। पंकप्रभा आदि तीन नरकों में भी तीर्थंकर नामकर्म के सिवाय वही सामान्य बन्ध-विधि समझना चाहिये ॥ ५ ॥

भावार्थ—पंकप्रभा आदि तीन नरकों का क्षेत्रस्वभाव ही ऐसा है कि जिससे उनमें रहने वाले नारक जीव सम्यक्त्वी होने पर भी तीर्थंकर नामकर्म को बाँध नहीं सकते। इससे उनको सामान्यरूप से तथा विशेपरूप से-पहले गुणस्थान में १०० प्रकृतियों का, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में ७१ का बन्ध है ॥ ५ ॥

अजिणमणुआउ ओहे, सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे।
इगनवई सासाणे, तिरिआउ नपुंसचउवज्जं ॥ ६ ॥

अजिनमनुजायुरोघे सप्तम्यां नरद्विकोच्चं विना मिथ्यात्वे।
एकनवतिस्सासादने तिर्यगायुर्नपुंसकचतुष्कवर्जम् ॥ ६ ॥

अर्थ—सातवें नरक के नारक, सामान्यरूप से ९९ प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि नरकगति की सामान्य-बन्ध योग्य १०१ प्रकृतियों में से जिन नामकर्म तथा मनुष्य आयु को वे नहीं बाँधते। उसी नरक के मिथ्यात्वी नारक, उक्त ९९ में से मनुष्य गति, मनुष्य आनुपूर्वी तथा उच्चगोत्र को छोड़, ९६ प्रकृतियों को बाँधते हैं। और सास्वादन गुणस्थान-वर्ती नारक ९१ प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्यों कि उक्त, ९६ में से तिर्यंचआयु, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, हुण्डसंस्थान और सेवार्त-संहनन, इन ५ प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते ॥ ६ ॥

सामान्य नरक का तथा रत्नप्रभादि नरक-त्रय का वन्धस्वामित्व-यन्त्र ।

गुणस्थानों के नाम	बन्ध्य-प्रकृतियाँ[1]	अवन्ध्य-प्रकृतियाँ[2]	विच्छेद्य-प्रकृतियाँ[3]	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियाँ
ओघ से.	१०१	१९	१	५	९	२	२६	२	५०	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	१००	२०	४	५	९	२	२६	२	४९	२	५	७-८
सास्वादन में.	९६	२४	२६	५	९	२	२४	२	४७	२	५	७-८
मिश्र में.	७०	५०	०	५	६	२	१९	०	३२	१	५	७
अविरत में.	७२	४८	०	५	६	२	१९	१	३२	१	५	७-८

१ बांधने योग्य. २ नहीं बांधने योग्य. ३ बंध-विच्छेद योग्य. अबन्ध्य और बंधविच्छेद्य में अन्तर यह है कि किसी निर्वाचित गुणस्थान की अबन्ध्य प्रकृतियाँ वे हैं जिनका बंध उस गुणस्थान में नहीं होता जैसे— नरकगति में मिथ्यात्व गुणस्थान में २० प्रकृतियाँ अबन्ध्य हैं। परंतु विवक्षित गुणस्थानकी बन्ध-विच्छेद्य

पङ्कप्रभा आदि नरक-त्रय का बन्धस्वामित्व-यन्त्र ।

गुणस्थानों के नाम	बन्ध्य-प्रकृतियाँ	अबन्ध्य-प्रकृतियाँ	बन्ध-विच्छेद्य प्रकृतियाँ	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियाँ.
ओघ से.	१००	२०	०	५	९	२	२६	२	४९	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	१००	२०	४	५	९	२	२६	२	४९	२	५	७-८
सास्वादन में.	९६	२४	२६	५	९	२	२४	१	४७	२	५	७-८
मिश्र में	७०	५०	०	५	६	२	१९	०	३२	१	५	७
अविरत में.	७१	४९	०	५	६	२	१९	१	३२	१	५	७-८

प्रकृतियाँ वे हैं जो उस गुणस्थान में बाँधी जाती हैं पर आगेके गुणस्थान में नहीं बांधी जातीं जैसे—नरकगति में मिथ्यात्व गुणस्थान की बन्ध–विच्छेद्य प्रकृतियाँ चार हैं। इसका मतलब यह है कि उन प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व गुणस्थान में तो होता है पर आगे के गुणस्थान में नहीं।

अणचउवीसविरहिया, सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे।
सतरसउ ओहि मिच्छे, पज्जतिरिया विणु जिणाहारं ॥७॥

अनचतुर्विंशतिविरहिता सनरद्विकोच्चा च सप्ततिर्मिश्रद्विके।
सप्तदशशतमोघे मिथ्यात्वे पर्याप्ततिर्यंचो विना जिनाहारम् ॥७॥

अर्थ—पूर्वोक्त ९१ में से अनन्तानुबन्धि-चतुष्क से लेकर तिर्यञ्च-द्विक-पर्यन्त २४ प्रकृतियों को निकाल देने पर शेष ६७ प्रकृतियाँ रहती हैं। इनमें मनुष्यगति, मनुष्यआनुपूर्वी तथा उच्चगोत्र-तीन प्रकृतियों को मिलाने से कुल ७० प्रकृतियाँ होती हैं। इनको तीसरे तथा चौथे गुणस्थान में वर्तमान सातवें नरक के नारक बांधते हैं। (तिर्यञ्चगति का बन्धस्वामित्व) पर्याप्त तिर्यञ्च सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों को बांधते हैं; क्योंकि जिननामकर्म तथा आहारक-द्विक इन तीन प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते ॥ ७ ॥

भावार्थ—पूर्व पूर्व नरक से उत्तर उत्तर नरक में अध्यवसायों की शुद्धि इतनी कम हो जाती है कि मनुष्य-द्विक तथा उच्चगोत्ररूप जिन पुण्यप्रकृतियों के बन्धक परिणाम पहले नरक के मिथ्यात्वी नारकों को हो सकते हैं उनके बन्ध योग्य परिणाम सातवें नरक में तीसरे, चौथे गुणस्थान के सिवाय अन्य गुणस्थान में असम्भव हैं। सातवें नरक में उत्कृष्ट विशुद्ध परिणाम वे ही हैं जिनसे कि उक्त तीन प्रकृतियों का बन्ध किया

जा सकता है। अतएव उसमें सबसे उत्कृष्ट पुण्य-प्रकृतियाँ उक्त तीन ही हैं।

यद्यपि सातवें नरक के नारक-जीव मनुष्यआयु को नहीं बाँधते तथापि वे मनुष्यगति तथा मनुष्यआनुपूर्वी-नामकर्म को बाँध सकते हैं। यह नियम नहीं है कि "आयुका बन्ध, गति और आनुपूर्वी नामकर्म के बन्ध के साथ ही होना चाहिये।"

सातवें नरक का बन्धस्वामित्व—यन्त्र

गुणस्थानों के नाम	बन्ध्य-प्रकृतियाँ.	अबन्ध्य-प्रकृतियाँ	बन्धविच्छेद्य-प्र०	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूलप्रकृतियाँ.
ओघसे.	९९	२१	०	५	९	२	२६	१	४९	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	९६	२४	५	५	९	२	२६	१	४७	१	५	७-८
सास्वादन में.	९१	२९	२४	५	९	२	२४	०	४५	१	५	७
मिश्र में.	७०	५०	०	५	६	२	१९	०	३२	१	५	७
अविरत में.	७०	५०	०	५	६	२	१९	०	३२	१	५	७

(तिर्यञ्चगति का बन्धस्वामित्व) सम्यक्त्वी होते हुये भी तिर्यञ्च अपने जन्म-स्वभावसे ही जिननामकर्म को बाँध नहीं सकते, वे आहारक-द्विक को भी नहीं बाँधते; इसका कारण यह है कि उसका बन्ध, चारित्र धारण करनेवालों को ही हो सकता है, पर तिर्यञ्च, चारित्र के अधिकारी नहीं हैं । अतएव उनके सामान्य-बन्ध में उक्त ३ प्रकृतियों की गिनती नहीं की है ॥७॥

विणु नरयसोल सासणि, सुराउ अणएगतीस विणु मीसे ।
ससुराउ सयरि संमे, वीयकसाए विणा देसे ॥ ८ ॥

विना नरकषोडश सासादने सुरायुरनैकात्रिंशतं विना मिश्रे ।
ससुरायुः सप्ततिः सम्यक्त्वे द्वितीयकषायान्विना देशे ॥ ८ ॥

अर्थ—दूसरे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त तिर्यञ्च १०१ प्रकृतियां को बाँधते हैं; क्योंकि पूर्वोक्त ११७ में से नरक-त्रिक से लेकर सेवार्त-पर्यन्त १६ प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते । तीसरे गुणस्थान में वे ६९ प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि उक्त १०१ में से अनन्तानुवन्धि—चतुष्क से लेकर वज्रऋषभ-नाराचसंहनन-पर्यन्त ३१ तथा देवआयु इन ३२ प्रकृतियों का बन्ध उनको नहीं होता । चौथे गुणस्थान में वे उक्त ६९ तथा देवआयु—कुल ७० प्रकृतियों को बाँधते हैं । तथा पाँचवें गुण-स्थान में ६६ प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि उक्त ७० में से ४ अप्रत्याख्यानावरण कषायों का बन्ध उनको नहीं होता ॥ ८ ॥

भावार्थ—चौथे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त तिर्यञ्च देवआयु को बाँधते हैं परन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्तमान उसे नहीं बाँधते; क्योंकि उस गुणस्थान के समय *आयु बाँधने के योग्य अध्यवसाय ही नहीं होते। तथा उस गुणस्थान में मनुष्यगति-योग्य ६ (मनुष्य-द्विक, औदारिक-द्विक, वज्रऋषभनाराचसंहनन और मनुष्य आयु) प्रकृतियों को भी वे नहीं बाँधते। इसका कारण यह है कि चौथे गुणस्थान की तरह तीसरे गुणस्थान के समय, पर्याप्त मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों ही देवगति-योग्य प्रकृतियों को बाँधते हैं; मनुष्यगति-योग्य प्रकृतियों को नहीं। इस प्रकार अनन्तानुवन्धि-चतुष्क से लेकर २५ प्रकृतियाँ—जिनका बन्ध तीसरे गुणस्थानमें किसी को नहीं होता—उन्हें भी वे नहीं बाँधते। इससे देवआयु १, मनुष्यगति योग्य उक्त ६ तथा अनन्तानुवन्धि-चतुष्क आदि २५—सबमिलाकर ३२ प्रकृतियों को उपर्युक्त १०१ में से घटाकर शेष ६९ प्रकृतियों का बन्ध पर्याप्त तिर्यंचों को मिश्रगुणस्थान में होता है। चौथे गुणस्थान में उनको देवआयु के बन्ध का सम्भव होने के कारण ७० प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है।

---

*—"संमा मिच्छद्दिट्ठी आउ बंधंपि न करेइ"
इति वचनात् "मिस्सूणे आउस्सय" इत्यादि
(गोम्मटसार—कर्म०—गा० ९२)

परन्तु पांचवें गुणस्थान में उनको ६६ प्रकृतियों का बन्ध माना गया है; क्योंकि उस गुणस्थान में ४ अप्रत्याख्यानावरण कषाय का बन्ध नहीं होता। अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का बन्ध पांचवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में न होने का कारण यह है कि 'कषाय के बन्ध का कारण कषाय का उदय है'। जिस प्रकार के कषाय का उदय हो उसी प्रकार के कषाय का बन्ध हो सकता है। अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का उदय पहले चार ही गुणस्थानों में है, आगे नहीं, अतएव उस का बन्ध भी पहले चार ही गुणस्थानों में होता है ॥ ८ ॥

पर्याप्त तिर्यञ्च का बन्धस्वामित्व—यन्त्र

गुणस्थानों के नाम	बन्ध्य-प्रकृतियाँ.	श्राबन्ध्य-प्रकृतियाँ	बन्धविच्छेद्य-प्र०	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	श्रायुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूलप्रकृतियाँ.
ओघसे.	११७	३	०	५	९	२	२६	४	६४	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	११७	३	१६	५	९	२	२६	४	६४	२	५	७-८
सास्वादन में.	१०१	१९	३२	५	९	२	२४	३	५१	२	५	७-८
मिश्र में.	६९	५१	०	५	६	२	१९	०	३१	१	५	७
अविरत में.	७०	५०	४	५	६	२	१९	१	३१	१	५	७-८
देशविरत में.	६६	५४	०	५	६	२	१५	१	३१	१	५	७-८
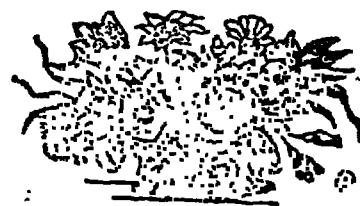
मनुष्यगति का बन्धस्वामित्व।

इय चउगुणेसु वि नरा, परमजया सजिण ओहु देसाई।
जिण इक्कारस हीणं, नवसउ अपजत्त तिरियनरा ॥९॥

इति चतुर्गुणेष्वपि नराः परमयताः साजिनमोघो देशादिषु।
जिनैकादशहीनं नवशतमपर्याप्ततिर्यङ्नराः ॥ ९ ॥

अर्थ—पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त मनुष्य, उन्हीं ४ गुणस्थानों में वर्तमान पर्याप्त तिर्यंच के समान प्रकृतियों को बांधते हैं। भेद केवल इतना ही है कि चौथे गुणस्थान वाले पर्याप्त तिर्यंच, जिन नाम कर्म को नहीं बांधते पर मनुष्य उसे बांधते हैं। तथा पांचवें गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानों में, वर्तमान मनुष्य दूसरे कर्मग्रन्थ में कहे हुये क्रम के अनुसार प्रकृतियों को बांधते हैं। जो तिर्यंच तथा मनुष्य अपर्याप्त हैं वे जिन नाम कर्म से लेकर नरकत्रिक-पर्यन्त ११ प्रकृतियों को छोड़ कर बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से शेष १०९ प्रकृतियों को बांधते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पर्याप्त तिर्यंच पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१ और तीसरे गुणस्थान में ६९ प्रकृतियों को बांधते हैं इसी प्रकार पर्याप्त मनुष्य भी उन ३ गुणस्थानों में उतनी उतनी ही प्रकृतियों को बांधते हैं। परन्तु

चौथे गुणस्थान में पर्याप्त तिर्यंच ७० प्रकृतियों को बांधते हैं, पर पर्याप्त मनुष्य ७१ प्रकृतियों को; क्योंकि वे जिन नाम कर्म को बांधते हैं लेकिन तिर्यञ्च उसे नहीं बांधते । पांचवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान-पर्यन्त प्रत्येक गुणस्थान में जितनी २ बन्धयोग्य प्रकृतियां दूसरे कर्मग्रन्थ के बन्धाधिकार में कही हुई हैं, उतनी उतनी ही प्रकृतियों को उस उस गुणस्थान के समय पर्याप्त मनुष्य बांधते हैं; जैसेः—पांचवें गुणस्थान में ६७,छट्ठे में ६३, सातवें मे ५६ या ५८ इत्यादि ।

अपर्याप्त तिर्यञ्च तथा अपर्याप्त मनुष्य को १०६ प्रकृतियों का जो बन्ध कहा है, वह सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार से समझना चाहिये; क्योंकि इस जगह 'अपर्याप्त' शब्द का मतलब लब्धि अपर्याप्त से है, करणअपर्याप्त से नहीं; और लब्धि अपर्याप्त जीव को पहला ही गुणस्थान होता है ।

'अपर्याप्त' शब्द का उक्त अर्थ करने का कारण यह है कि करण अपर्याप्त मनुष्य, तीर्थंकर नाम कर्म को बांध भी सकता है, पर १०६ में उस प्रकृति की गणना नहीं है ॥ ६ ॥

पर्याप्त मनुष्य का बन्धस्वामित्व-यन्त्र ।

गुणस्थानों के नाम	बन्ध्य-प्रकृतियां.	अबन्ध्य-प्रकृतियां	विच्छेद्य-प्रकृतियां	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियां
ओघ से.	१२०	०	०	५	९	२	२६	४	६७	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	११७	३	१६	५	९	२	२६	४	६४	२	५	७-८
सास्वादन में.	१०१	१९	३२	५	९	२	२४	३	५१	२	५	७-८
मिश्र में.	६९	५१	०	५	६	२	१९	०	३१	१	५	७
अविरत में.	७१	४९	४	५	६	२	१९	१	३२	१	५	७-८
देशविरत में.	६७	५३	४	५	६	२	१५	१	३२	१	५	७-८
प्रमत्त में	६३	५७	६ / ७	५	६	२	११	१	३२	१	५	७-८

अप्रमत्त म.	५९ ५८	६१ ६२	१ ०	५	६	१	६	१/०	३१	१	५	७-८
अपूर्व करण में.	५८* ५६ २६	६२ ६४ ९४	२ ३० ४	५	६ ४ ४	१	६	०	३१ ३१ १	१	५	७
अनिवृत्ति में.	२२ २१ २० १९ १८	९८ ९९ १०० १०१ १०२	१ १ १ १ १	५	४	१	५ ४ ३ २ १	०	१	१	५	७
सूक्ष्मसम्पराय में.	१७	१०३	१६	५	४	१	०	०	१	१	५	६
उपशान्तमोह में.	१	११९	०	०	०	१	०	०	०	०	०	१
क्षीणमोह में.	१	११९	०	०	०	१	०	०	०	०	०	१
सयोगिकेवली में.	१	११९	१	०	०	१	०	०	०	०	०	१
अयोगिकेवली में.	०	१२०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०

* ५८का बन्ध पहले भाग में, ५६का दूसरे से छट्ठे तक पाँच भागों में और २६का बन्ध सातवें भाग में समझना.

लब्धि अपर्याप्त तिर्यञ्च तथा मनुष्य का बन्धस्वामित्व-यन्त्र।

गुणस्थान.	बन्ध्य-प्रकृतियाँ.	अबन्ध्य-प्रकृतियाँ.	विच्छेद्य-प्रकृतियाँ.	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियाँ.
ओघ से.	१०९	११	०	५	९	२	२६	२	५८	२	५	७-८
मिथ्यात्वमें.	१०९	११	०	५	९	२	२६	२	५८	२	५	७-८

'देवगति के बन्धस्वामित्व को दो गाथाओं से कहते हैं:—'

निरय व्व सुरा नवरं, ओहे मिच्छे इगिंदितिग सहिया।
कप्पदुगे विय एवं, जिणहीणो जोइभवणवणे ॥ १० ॥

निरया इव सुरा नवरमोघे मिथ्यात्व एकेन्द्रियत्रिक सहिताः।
कल्पाद्विकेऽपि चैवं जिनहीनो ज्योतिष भवनवाने ॥ १० ॥

अर्थ—यद्यपि देवों का प्रकृति बन्ध नारकों के प्रकृति-बन्ध के समान है, तथापि सामान्य–बन्ध–योग्य और पहले गु-णस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों में कुछ विशेष है; क्योंकि एकेन्द्रियजाति, स्थावर तथा आतपनामकर्म इन तीन प्रकृतियों को देव बांधते हैं, पर नारक उन्हें नहीं बांधते। 'सौधर्म' नामक पहले और 'ईशान' नामक दूसरे कल्प (देवलोक) में जो देव रहते हैं, उनका सामान्य तथा विशेष प्रकृति-बन्ध देवगति के उक्त प्रकृति–बन्ध के अनुसार ही है। इस प्रकार ज्योतिष, भवनपति और व्यन्तर निकाय के देव जिननामकर्म के सिवाय और सब प्रकृतियों को पहले दूसरे देव लोक के देवों के समान ही बांधते हैं।

भावार्थ—सामान्य देवगति में तथा पहले दूसरे देव-लोक के देवों को सामान्यरूप से १०४, पहले गुणस्थान में १०३ दूसरे में ६६ तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृ-तियों का बन्ध होता है।

उपर्युक्त ज्योतिष आदि देवों को सामान्यरूप से तथा प-हले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ६६, तीसरे में ७० और चौथे गुणस्थान में ७१ प्रकृतियों का बन्ध होता है ॥ १० ॥

सामान्य-देवगति का तथा पहले दूसरे देवलोक के देवों का बन्धस्वामित्व-यन्त्र ।

गुणस्थानों के नाम	बन्ध्य-प्रकृतियाँ	अबन्ध्य-प्रकृतियाँ	विच्छेद्य-प्रकृतियाँ	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियाँ.
ओघ से.	१०४	१६	१	५	९	२	२६	२	५३	२	५	७-८
मिथ्यात्व में.	१०३	१७	७	५	९	२	२६	२	५२	२	५	७-८
सास्वादन में.	९६	२४	२६	५	९	२	२४	२	४७	२	५	७-८
मिश्र में	७०	५०	०	५	६	२	१९	०	३२	१	५	७
अविरत में.	७२	४८	०	५	६	२	१९	१	३३	१	५	७-८

भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों का बन्धस्वामित्व-यन्त्र।

गुणस्थानों के नाम	बन्ध्यप्रकृतियाँ	अबन्ध्यप्रकृतियाँ	विच्छेद्यप्रकृतियाँ	ज्ञानावरणीय	दर्शनावरणीय	वेदनीय कर्म	मोहनीय कर्म	आयु कर्म	नाम कर्म	गोत्र कर्म	अन्तराय कर्म	मूलप्रकृतियाँ
ओघ से	१०३	१७	०	५	९	२	२६	२	५२	२	५	७-८
मिथ्यात्व में	१०३	१७	७	५	९	२	२६	२	५२	२	५	७-८
सास्वादन में	९६	२४	२६	५	९	२	२४	२	४७	२	५	७-८
मिश्र में	७०	५०	०	५	६	२	१९	०	३२	१	५	७
अविरत में	७१	४९	०	५	६	२	१९	१	३२	१	५	७-८

रयणु व सणं कुमारा-इ आणयाई उज्जोयचउ रहिया।
अपज्जतिरिय व नवसय, मिगिंदिपुढविजलतरुविगले ॥११॥

रत्नवत्सनत्कुमारादय आनतादय उद्योतचतुर्विरहिताः।
अपर्याप्ततिर्यग्वन्नवशत मेकेन्द्रियपृथ्वीजलतरुविकले ॥ ११ ॥

अर्थ—तीसरे सनत्कुमार-देवलोक से लेकर आठवें सहस्रार तक के देव, रत्नप्रभा-नरक के नारकों के समान प्रकृति-बन्ध के अधिकारी हैं; अर्थात् वे सामान्यरूप से १०१, मिथ्यात्व-गुणस्थान में १००, दूसरे गुणस्थान में ९६, तीसरे में ७० और चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों को बांधते हैं। आनत से अच्युत-पर्यन्त ४ देवलोक और ९ ग्रैवेयक के देव उद्योत-चतुष्क के सिवाय और सब प्रकृतियों को सनत्कुमार के देवों के समान बांधते हैं; अर्थात् वे सामान्यरूप से ९७, पहले गुणस्थान में ९६, दूसरे में ९२, तीसरे में ७० और चौथे गुणस्थानमें ७२ प्रकृतियों को बांधते हैं। (इन्द्रिय और कायमार्गणा का बन्धस्वामित्व)— एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वीकायिक, जलकायिक तथा वनस्पतिकायिक जीव, अपर्याप्त तिर्यञ्च के समान जिननामकर्म से लेकर नरकत्रिक-पर्यन्त ११ प्रकृतियों को छोड़कर बन्ध-योग्य १२० में से शेष १०९ प्रकृतियों को सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में बांधते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—उद्योत-चतुष्क से उद्योतनामकर्म, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चआनुपूर्वी और तिर्यचआयु का ग्रहण होता है।

यद्यपि अनुत्तरविमान के विपय में गाथा में कुछ नहीं कहा है, परन्तु समझलेना चाहिये कि उसके देव सामान्यरूप से तथा चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों के बन्ध के अधिकारी हैं। उन्हें चौथे के सिवाय दूसरा गुणस्थान नहीं होता।

अपर्याप्त तिर्यञ्च की तरह उपर्युक्त एकेन्द्रिय आदि ७ मार्गणाओं के जीवों के परिणाम नतो सम्यक्त्व तथा चारित्र के योग्य शुद्ध ही होते हैं, और न नरक-योग्य अतिअशुद्ध ही, अतएव वे जिननामकर्म आदि ११ प्रकृतियों को बांध नहीं सकते ॥ ११ ॥

नववें से लेकर ४ देवलोक तथा नव ग्रैवेयक के देवों का बन्धस्वामित्व-यन्त्र।

गुणस्थानों के नाम	बन्ध्य-प्रकृति०	अबन्ध्य-प्रकृति०	विच्छेद्य-प्रकृति०	ज्ञानावरणीय	दर्शनावरणीय	वेदनीयकर्म	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियाँ
ओघ से	९७	२३	१	५	९	२	२६	१	४७	२	५	७-८
मिथ्यात्व में	९६	२४	४	५	९	२	२६	१	४६	२	५	७-८
सास्वादन में	९२	२८	२२	५	९	२	२४	१	४४	२	५	७-८
मिश्र में	७०	५०	०	५	६	२	१९	०	३२	१	५	७
अविरत में	७२	४८	०	५	६	२	१९	१	३३	१	५	७-८

अनुत्तर विमानवासी देवों का बन्धस्वामित्व-यन्त्र ।

गुणस्थान	बन्ध्य-प्रकृतियाँ.	अबन्ध्य-प्रकृतियाँ.	विच्छेद्य-प्रकृतियाँ.	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियाँ.
ओघ से.	७२	४८	०	५	६	२	१९	१	३३	१	५	७-८
अविरत में.	७२	४८	०	५	६	२	१६	१	३३	१	५	७-८

छनवइ सासणि विणु सुहु-मतेर केइ पुणविंति चउनवइं।
तिरियनराऊहि विणा, तणुपज्जत्तिं* न ते जंति ॥ १२ ॥+

पण्णवतिः सासादने विना सूक्ष्मत्रयोदश केचित्पुनर्बुवन्ति।
तिर्यग्नरायुर्भ्यां विना तनुपर्याप्तिं न ते यान्ति ॥ १२ ॥

अर्थ—पुर्वोक्त एकेन्द्रिय आदि जीव दूसरे गुणस्थान में ९६ प्रकृतियों को बाँधते हैं, क्योंकि पहले गुणस्थान की बन्ध योग्य १०९ में से सूक्ष्मत्रिक से लेकर सेवार्त-पर्यन्त १३ प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते। कोई आचार्य कहते हैं कि—"ये एकेन्द्रिय आदि, दूसरे गुणस्थान के समय तिर्यञ्च आयु तथा मनुष्यआयु को नहीं बाँधते, इससे वे उस गुणस्थान में ९४ प्रकृतियों को ही बाँधते हैं। दूसरे गुणस्थान में तिर्यञ्च-आयु तथा मनुष्य आयु बाँध न सकने का कारण यह है कि वे एकेन्द्रिय आदि, उस गुणस्थान में रह कर शरीरपर्याप्ति पूरी करने नहीं पाते।" ॥ १२ ॥

---

* "न जंति ज ओ" इत्यपि पाठः।

\+ इस गाथा में वर्णन किया हुआ ९६ और ९४ प्रकृतियों के बन्ध का मत भेद प्राचीन बन्धस्वामित्व में है; यथाः—

साणा बंधहिं सोलस, निरतिग हीणा य मोत्तु छन्नउइं।
ओघेणं वीसुत्तर—सयं च पंचिंदिया बंधे॥ २३॥

इग विग लिंदी साणा, तणु पज्जत्तिं न जंति जं तेण।
नर तिरियाउ अबंधा, मयं तरेणं तु चउणउइं॥ २४॥

भावार्थ—एकेन्द्रिय आदि को अपर्याप्त अवस्था ही में दूसरे गुणस्थान का सम्भव है; क्यों कि जो भवनपति व्यन्तर आदि, मिथ्यात्व से एकेन्द्रिय आदि की आयु बाँध कर पीछे से-सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं वे मरण के समय सम्यक्त्व को वमते हुऐ एकेन्द्रिय-आदि-रूप से पैदा होते हैं, उसी समय उनमें सासादन सम्यक्त्व पाया जाता है।

दूसरे गुणस्थान में वर्तमान एकेन्द्रिय आदि जीवों के वन्धस्वामित्व के विषय में जो मत-भेद ऊपर कहा गया है, उसे समझने के लिये इस सिद्धान्त को ध्यान में रखना आवश्यक है कि "कोई भी जीव इन्द्रिय पर्याप्ति पूरी किये विना आयु को वाँध नहीं सकता।"

९६ प्रकृतियों का बंध माननेवाले आचार्य का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि इन्द्रियपर्याप्ति के पूर्ण बन चुकने के बाद जब कि आयु-बंध का काल आता है तब तक सासादन भाव बना रहता है। इसलिये सासादन गुणस्थान में एकेन्द्रिय आदि जीव तिर्यंच आयु तथा मनुष्य आयु का बंध कर सकते हैं। परंतु ९४ प्रकृतियों का बंध माननेवाले *आ-

---

* ९४ प्रकृतियों का बन्ध माननेवाले आचार्य के विषय में श्री जयसोमसूरि ने अपने गुजराती टबे में लिखा है कि "वे आचार्य श्री चन्द्रसूरि प्रमुख हैं।" उनके पक्षकी पुष्टि के विषय में श्री जीवविजयजी अपने टबे में कहते हैं कि "यह पक्ष युक्त जान पड़ता है। क्यों कि एकेन्द्रिय आदि की जघन्य आयु भी २५६ आवलिका प्रमाण है, उसके

चार्य कहते हैं कि सासादनभाव में रहकर इन्द्रिय पर्याप्ति को पूर्ण करने की तो बात ही क्या शरीर पर्याप्ति को भी पूर्ण नहीं कर सकते अर्थात् शरीर पर्याप्ति पूर्ण करने के पहले ही एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त जीव सासादन भावसे च्युत हो जाते हैं। इसलिये वे दूसरे गुणस्थान में रहकर आयु को बांध नहीं सकते ॥ १२ ॥

दो भाग—अर्थात् १७१ आवलिकायें बीत चुकने पर आयु-बन्ध का सम्भव है। पर उसके पहले ही सास्वादनसम्यक्त्व चला जाता है, क्योंकि वह उत्कृष्ट ६ आवलिकायें तक ही रह सकता है। इसलिये सास्वादन-अवस्था में ही शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति का पूर्ण बन जाना मान लिया जाय तथापि उस अवस्थासे आयु-बन्ध का किसी तरह सम्भव ही नहीं।" इसी की पुष्टि में उन्होंने औदारिक मिश्र मार्गणा का सास्वादन गुणस्थान-सम्बधी ६४ प्रकृतियों के बंध का भी उल्लेख किया है। ६६ का बंध माननेवाले आचार्य का क्या अभिप्राय है,इसे कोई नहीं जानते। यही बात श्री जीवविजयजी और श्री जयसोमसूरि ने अपने टबे में कही है। ६४ के बंध का पक्ष विशेष सम्मत जान पड़ता है क्योंकि उस एकही पक्ष का उल्लेख गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में भी है:—

पुण्णिदरं विगि बिगले तत्थुप्पण्णो हु सासणो देहे।
पज्जत्तिं ण वि पावदि इदि नरतिरियाउगं णत्थि ॥ ११३ ॥

अर्थात् एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में पूर्णेतर—लब्धि अपर्याप्त—के समान बन्ध होता है। उस एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय में पैदा हुआ सासादन सम्यक्त्वी जीव शरीर पर्याप्ति को पूरा कर नहीं सकता, इससे उसको उस अवस्था में मनुष्य आयु या तिर्यंच-आयु का बन्ध नहीं होता।

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रि, पृथ्वीकाय, जलकाय-और वनस्पतिकाय का बन्धस्वामित्व-यन्त्र ।

गुणस्थान.	बन्ध्य-प्रकृतियाँ.	अबन्ध्य-प्रकृतियाँ.	विच्छेद्य-प्रकृतियाँ.	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.	मूल-प्रकृतियाँ.
ओघ, से.	१०९	११	०	५	९	२	२६	२	५८	२	५	७-८
मिथ्यात्वमें.	१०९	११	१३/१५	५	९	२	२६	२	५८	२	५	७-८
सास्वादनमें.	९६/९४	२४/२६	०	५	९	२	२४	२/०	४७	२	५	७-८

"इस गाथा में पञ्चेन्द्रिय जाति, त्रसकाय, और गतित्रस का वन्धस्वामित्व कहकर १६वीं गाथा तक योग मार्गणा के वन्ध-स्वामित्व का विचार करते हैं।

ओहु पणिंदितसे गइ–तसे जिणिक्कार नरतिगुच्च विणा।
मणवयजोगे ओहो, उरले नरभंगु तम्मिस्से ॥ १३ ॥

ओघः पञ्चेन्द्रियत्रसे गतित्रसे जिनैकादश नरत्रिकोच्चं विना।
मनोवचोयोगे ओघ औदारिके नरभंगस्तान्मिश्रे ॥ १३ ॥

अर्थ—पञ्चेन्द्रिय जाति और त्रसकाय में ओघ—वन्धाधिकार के समान—प्रकृतिवन्ध जानना। गतित्रस (तेजःकाय और वायुकाय) में जिनएकादश—जिननामकर्म से लेकर नरकत्रिक पर्यन्त ११—मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र इन १५ को छोड़, १२० में से शेष १०५ प्रकृतियों का वन्ध होता है। (योगमार्गणा का वन्धस्वामित्व) मनोयोग तथा वचनयोग में अर्थात् मनोयोग वाले तथा मनोयोगसहितवचनयोग वाले जीवों में वन्धाधिकार के समान प्रकृति-वन्ध समझना। औदारिक काययोग में अर्थात् मनोयोगवचनयोगसहित औदारिक काययोग वालों में नरभंग—पर्याप्त मनुष्य के समान वन्धस्वामित्व—समझना ॥ १३ ॥

भावार्थ—पञ्चेन्द्रियजाति और त्रसकाय का वन्धस्वामित्व वन्धाधिकार के समान कहा हुआ है; इसका मतलव यह है कि 'जैसे दूसरे कर्मग्रन्थ में वन्धाधिकार में सामान्यरूप से

१२० और विशेषरूप से–तेरह गुणस्थानों में–क्रमसे ११७, १०१, ७४, ७७ इत्यादि प्रकृतियों का बन्ध कहा है, वैसे ही पञ्चेन्द्रियजाति और त्रसकाय में भी सामान्यरूप से १२० तथा तेरह गुणस्थानों में क्रमसे ११७, १०१ आदि प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिये।'

इसी तरह आगे भी जिस मार्गणा में बन्धाधिकार के समान बन्धस्वामित्व कहा जाय वहां उस मार्गणा में जितने गुणस्थानों का सम्भव हो, उतने गुणस्थानों में बन्धाधिकार के अनुसार बन्धस्वामित्व समझ लेना चाहिये।

गतित्रस। † शास्त्र में त्रस जीव दो प्रकार के माने जाते हैं:—एक तो वे, जिन्हें त्रसनामकर्म का उदय भी रहता है और जो चलते-फिरते भी हैं। दूसरे वे, जिनको उदय तो स्थावर नाम-कर्म का होता है, पर जिनमें गति-क्रिया पायी जाती है। ये दूसरे प्रकार के जीव 'गतित्रस' या '*सूक्ष्मत्रस' कहलाते हैं।

इन गतित्रसों में १०५ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व कहा हुआ है, सो सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार से; क्योंकि उनमें पहला गुणस्थान ही होता है। उनके बन्धस्वामित्व में जिनएकादश आदि उपर्युक्त १५ प्रकृतियों के न गिनने का कारण यह है कि वे गतित्रस मर कर केवल तिर्यञ्चगति में

---

१ † उत्तराध्ययन अ० ३६, गा० १०७

२ * यथा—" सुहुमतसा ओघ थूल तसा "(प्राचीन बन्धस्वामित्व गा २५)।

जाते हैं, अन्य गतियों में नहीं। परन्तु उक्त १५ प्रकृतियाँ तो मनुष्य, देव या नरक गति ही में उदय पाने योग्य हैं।

यद्यपि गाथा में 'मणवयजोगे' तथा 'उरले' ये दोनों पद सामान्य हैं, तथापि 'ओहो' और 'नरभंगु' शब्द के सन्निधान से टीका में 'वयजोग का' मतलब मनोयोग-सहित-वचनयोग और 'उरल' का मतलब मनोयोगवचन-योगसहित औदारिक काययोग--इतना रक्खा गया है; इस-लिये अर्थ भी टीका के अनुसार ही कर दिया गया है। परन्तु 'वयजोग' का मतलब केवल वचनयोग और 'उरल' का मतलब केवल औदारिक काययोग रख कर भी उसमें बन्धस्वामित्व का विचार किया हुआ है; सो इस प्रकार है कि केवल वचनयोग में तथा केवल औदारिक काययोग में विकलेन्द्रिय या एकेन्द्रिय के समान बन्धस्वामित्व है अर्थात् सामान्यरूप से तथा पहले गुण-स्थान में १०६ और दूसरे गुणस्थान में ९६ या ९४ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व है।

योग का, तथा उसके मनोयोग आदि तीन मूल भेदों का और सत्य मनोयोग आदि १५ उत्तर भेदों का स्वरूप चौथे कर्मग्रन्थ की गाथा ९, १०, और २४ वीं से जान लेना ॥१३॥

आहारछग विणोहे, चउदससउ मिच्छि जिणपणगहीणं।
सासणि चउनवइ विणा, नरतिरिआऊ* सुहुमतेर ॥१४॥

आहारषट्कं विनौघे चतुर्दशशतं मिथ्यात्वे जिनपञ्चकहीनम्।
सासादने चतुर्नवतिर्विना नरतिर्यगायुः सूक्ष्मत्रयोदश ॥ १४ ॥

अर्थ—(पिछली गाथासे 'तम्मिसे' पद लिया जाता है) औदारिक मिश्रकाययोग में सामान्यरूप से ११४ प्रकृतियों का बन्ध होता है, क्योंकि आहारक-द्विक, देवआयु और नरकत्रिक इन छह प्रकृतियों का बन्ध उसमें नहीं होता। उस योग में पहले गुणस्थान के समय जिननामकर्म, देव-द्विक तथा वैक्रिय-द्विक इन पांचके सिवाय उक्त ११४ में से शेष ‡१०९ प्रकृतियों का बन्ध

* "तिरिअनराऊ इत्यपि पाठः"

‡ मिथ्यात्व गुणस्थान में जिन १०९ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व औदारिकमिश्रकाययोग में माना जाता है, उनमें तिर्यञ्चआयु और मनुष्यआयु भी परिगणित है। इसपर श्रीजीवविजयजी ने अपने टबे में संदेह किया है कि "औदारिकमिश्रकाययोग शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने पर्यन्त ही रहता है, आगे नहीं; और आयुबन्ध शरीरपर्याप्ति और इन्द्रिय-पर्याप्ति पूरी हो जाने के बाद होता है, पहले नहीं। अतएव औदारिक मिश्रकाययोग के समय अर्थात् शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के पूर्व में, आयु-बन्ध का किसी तरह सम्भव नहीं। इसलिये उक्त दो आयुओं का १०९ प्रकृतियों में परिगणन विचारणीय है।" यह संदेह शिलांकआचार्य के मत को लेकर ही किया है, क्योंकि वे औदारिकमिश्रकाययोग को शरीर पर्याप्तिपूर्ण बनने तक ही मानते हैं। परन्तु उक्त संदेह का निरसन इस प्रकार किया जा सकता है:—

होता है। और दूसरे गुणस्थान में ६४ प्रकृतियों का बन्ध होता है, क्योंकि मनुष्यआयु, तिर्यञ्चआयु तथा सूक्ष्मत्रिक से लेकर

पहले तो यह नियम नहीं है कि शरीरपर्याप्ति पूरी होने पर्यन्त ही औदारिकमिश्रकाययोग मानना, आगे नहीं। श्रीमान् भद्रबाहु स्वामी की जिस "जोएण कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवो। तेण परं मीसेणं जाव सरीर निप्फत्ती ॥ १ ॥" उक्ति के आधार से औदारिक मिश्रकाय-योग का सद्भाव शरीरपर्याप्ति की पूर्णता तक माना जाता है। उस उक्ति के 'सरीर निप्फत्ती' पद का यह भी अर्थ हो सकता है कि शरीर पूर्ण बन जाने पर्यन्त उक्त योग रहता है। शरीर की पूर्णता केवल शरीर-पर्याप्ति के बन जाने से नहीं हो सकती। इस के लिये जीव की अपने अपने योग्य सभी पर्याप्तियों का बन जाना आवश्यक है। स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियाँ पूर्ण बन जाने ही से शरीर का पूरा बन जाना माना जा सकता है। 'सरीर निप्फत्ती' पद का यह अर्थ मनःकल्पित नहीं है। इस अर्थ का समर्थन श्री देवेन्द्रसूरि ने स्वरचित चौथे कर्मग्रन्थ की चौथी गाथा के 'तणुपज्जेसु उरलमन्ने' इस अंश की टीका में किया है। वह इस प्रकार है:—

'यद्यपि तेषां शरीर पर्याप्तिः समजनिष्ट तथापीन्द्रियोच्छ्वासादीनामद्याप्यनिष्पन्नत्वेन शरीरस्यासंपूर्णत्वादत एवकार्मणस्याप्यद्यापि व्याप्रियमाणत्वादौदारिकमिश्रमेव तेषां युक्त्या घटमानमिति।' जब यह भी पक्ष है कि 'स्वयोग्य सब पर्याप्तियाँ पूरी हो जाने पर्यन्त औदारिक मिश्रकाययोग रहता है' तब उक्त संदेह को कुछ भी अवकाश नहीं है; क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन चुकने के बाद जबकि आयु-बन्ध का अवसर आता है तब भी औदारिकमिश्रकाययोग तो रहता ही है।

सेवार्त-पर्यन्त १३–कुल १५ प्रकृतियों का बन्ध उसमें नहीं होता ॥ १४ ॥

इसलिये औदारिकमिश्रकाययोग में मिथ्यात्व गुणस्थान के समय उक्त दो आयुओं का बन्धस्वामित्व माना जाता है सो उक्त पक्षकी अपेक्षा से युक्त ही है। मिथ्यात्व के समय उक्त दो आयुओं का बन्धस्वामित्व औदारिक मिश्रकाययोग में, जैसा कर्मग्रन्थ में निर्दिष्ट है वैसा ही गोम्मटसार में भी। यथाः—

" ओराले वा मिस्से णहि सुरणिरयाउहारणिरयदुगं।
मिच्छदुगे देवचओ तित्थं णहि अविरदे अत्थि ॥ "
[*कर्म काण्ड, गाथा ११६*]

अर्थात् " औदारिक मिश्रकाययोग का बन्धस्वामित्व औदारिक काययोग के समान ही है। विशेष इतना ही है कि देव आयु नरक आयु, आहारक-द्विक और नरकद्विक-इन छह प्रकृतियों का बन्ध औदारिक मिश्र काययोग में नहीं होता तथा उसमें मिथ्यात्व के और सास्वादन के समय देवचतुष्क व जिननाम कर्म इन ५ का बन्ध नहीं होता, पर अविरतसम्यग्दृष्टि के समय उनका बन्ध होता है।"

उपर्युक्त समाधान की पुष्टि श्री जयसोमसूरि के कथन से भी होती है। उन्होंने अपने टबे में लिखा है कि " यदि यह पक्ष माना जाय कि शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक ही औदारिकमिश्रकाययोग रहता है तो मिथ्यात्वमें तिर्यंच आयु तथा मनुष्य आयुका बन्ध कथमपि नहीं होसकता; इसलिये इस पक्ष की अपेक्षा से उस योग में सामान्यरूप से ११२ और मिथ्यात्व में १०७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए। " इस कथन से, स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण बन जाने पर्यन्त औदारिक मिश्रकाययोग रहता है-इस दूसरे पक्ष की सूचना स्पष्ट होती है।

अण चउवीसाइ विणा, जिणपणजुय संमि जोगिणो सायं।
विणु तिरिनराउ कम्मे, वि एवमाहारदुगि ओहो ॥ १५ ॥

अनचतुर्विंशतिं विना जिनपञ्चकयुताः सम्यक्त्वे योगिनः सातम्
विना तिर्यङ्नरायुः कार्मणेप्येवमाहारकद्विक ओघः ॥ १५ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त ६४ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धि-चतुष्क से लेकर तिर्यंच-द्विक-पर्यन्त २४ प्रकृतियों को घटा कर शेष ७० में जिननामकर्म, देव-द्विक तथा वैक्रिय-द्विक इन ५ प्रकृतियों के मिलाने से ७५ प्रकृतियाँ होती हैं; *इनका बन्ध औदारिकमिश्रकाययोग में चौथे गुणस्थान के

---

* चौथे गुणस्थान के समय औदारिकमिश्रकाययोग में जिन ७५ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व कहा है, उनमें मनुष्यद्विक, औदारिक-द्विक और प्रथम संहनन—इन ५ प्रकृतियों का समावेश है। इस पर श्री जीवविजय जी महाराज ने अपने टबे में संदेह उठाया है कि "चौथे गुणस्थान में औदारिक मिश्रकाययोगी उक्त ५ प्रकृतियों को बाँध नहीं सकता। क्योंकि तिर्यंच तथा मनुष्य के सिवाय दूसरों में उस योग का सम्भव नहीं है और तिर्यंच मनुष्य उस गुणस्थान में उक्त ५ प्रकृतियों को बाँध ही नहीं सकते। अतएव तिर्यंच गति तथा मनुष्य गति में चौथे गुणस्थान के समय जो क्रम से ७० तथा ७१ प्रकृतियों का बन्ध स्वामित्व कहा गया है, उसमें उक्त ५ प्रकृतियाँ नहीं आतीं।" इस संदेह का निवारण श्री जयसोमसूरि ने किया है:—

वे अपने टबे में लिखते हैं कि, " गाथागत 'अणचउवीसाइ' इस पद का अर्थ अनन्तानुबन्धीआदि २४ प्रकृतियाँ—यह नहीं करना, किन्तु 'आइ' शब्द से और भी ५ प्रकृतियां लेकर, अनन्तानुबन्धी आदि २४ तथा मनुष्यद्विक आदि ५, कुल २९ प्रकृतियाँ—यह अर्थ

समय होता है। तेरहवें गुणस्थान के समय उस योग में केवल सातवेदनीय का बन्ध होता है। कार्मणकाययोग में तिर्यञ्चआयु और नरकआयु के सिवाय और सब प्रकृतियों का बन्ध औदारिकमिश्रकाययोग के समान ही है। आहारक-द्विक में—आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग में 'सामान्य तथा विशेषरूप से ६३प्रकृतियों के ही बन्ध की योग्यता है ॥१५॥

करना। ऐसा अर्थ करने से उक्त संदेह नहा रहता। क्योंकि ९४मेंसे २९ घटाकर शेष६५में जिनपंचक मिलाने से७०प्रकृतियाँ होती हैं जिनका कि बन्धस्वामित्व उस योग में उक्त गुणस्थान के समय किसी तरह विरुद्ध नहीं है।" यह समाधान प्रामाणिक जान पड़ता है। इसकी पुष्टि के लिये पहले तो यह कहा जा सकता है कि मूल गाथा में 'पचहत्तर' संख्या का बोधक कोई पद ही नहीं है। दूसरे श्री दिगम्बराचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ती भी द्वितीय गुणस्थान में २९ प्रकृतियों का विच्छेद मानते हैं:—

"पणवारसमुनतीसं मिच्छदुगे अविरदे छिदी चउरो।"

[गोम्मटसार, कर्मकाण्ड गा० ११७]

यद्यपि टीका में ७५ प्रकृतियों के बन्ध का निर्देश स्पष्ट किया है:—'प्रागुक्ता चतुर्नवतिरनन्तानुबन्ध्यादि चतुर्विंशतिप्रकृतीर्विना जिननामादि प्रकृतिपंचकयुता च पंचसप्ततिस्तामौदारिकमिश्रकाययोगी सम्यक्त्वे बध्नाति' तथा बन्धस्वामित्व नामक प्राचीन तीसरे कर्मग्रन्थ में भी गाथा (२८-२९) में ७५ प्रकृतियों के ही बन्ध का विचार किया है, तथापि जानना चाहिये कि उक्त टीका, मूल कर्ता श्री देवेन्द्रसूरि की नहा है और टीका-

भावार्थ—पूर्व गाथा तथा इस गाथा में मिला कर पहले, दूसरे, चौथे और तेरहवें इन ४ गुणस्थानों में औदारिकमिश्र-काययोग के बन्धस्वामित्व का विचार किया गया है, सो कार्म-ग्रन्थिक मत के अनुसार; क्योंकि सिद्धान्त के मतानुसार तो उस योग में और भी दो (पाँचवां, छठा) गुणस्थान माने जाते हैं। वैक्रियलब्धि से वैक्रिय शरीर का आरम्भ करने के समय अर्थात् पाँचवें–छठे गुणस्थान में और आहारकलब्धि

कार ने इस विषय में कुछ शंका-समाधान नहीं किया है; इसी प्रकार प्राचीन बन्धस्वामित्व की टीकामें भी श्री गोविन्दाचार्य ने नतो इस विषय में कुछ शंका उठाई है और न समाधान ही किया है। इससे जान पड़ता है कि यह विषय योंही बिना विशेष विचार किये परम्परा से मूल तथा टीका में चला आया है। इस पर और कार्मग्रन्थिकों को विचार करना चाहिये। तब तक श्री जयसोमसुरि के समाधान को महत्व देने में कोई आपत्ति नहीं।

तिर्यंच तथा मनुष्यही औदारिकमिश्रकाययोगी हैं और वे चतुर्थ गुण स्थान में क्रम से ७० तथा ७१ प्रकृतियों को यद्यपि बाँधते हैं तथापि औदारिक मिश्रकाययोग में चतुर्थ गुणस्थान के समय ७१ प्रकृतियों का बन्ध न मान कर ७० प्रकृतियों के बन्ध का समर्थन इसलिये किया जाता है कि उक्त योग अपर्याप्त अवस्था ही में पाया जाता है। अपर्याप्त अवस्था में तिर्यंच या मनुष्य कोई भी देवायु नहीं बांध सकते। इससे तिर्यंच तथा मनुष्य की बन्ध्य प्रकृतियों में देवआयु परिगणित है पर औदारिक मिश्रकाययोग की बन्ध्य प्रकृतियों में से उसको निकाल दिया है।

से आहारक शरीर को रचने के समय अर्थात् छट्ठे गुणस्थान में औदारिकमिश्रकाययोग सिद्धान्त में+ माना है।

औदारिकमिश्रकाययोग में ४ गुणस्थान मानने वाले कार्मग्रन्थिक विद्वानों का तात्पर्य इतना ही जान पड़ता है कि 'कार्मण शरीर और औदारिकशरीर दोनों की मदद से होने वाले योग को 'औदारिकमिश्रकाययोग' कहना चाहिये जो

+ इस मत की सूचना चौथे कर्मग्रन्थ में "सासण भावे नाणं, विउव्व-गाहारगे उरलमिस्सं।" गाथा ४६ वीं में है, जिस का खुलासा इस प्रकार है:-

"यदा पुनरौदारिकशरीरी वैक्रियलब्धि-सम्पन्नो मनुष्यः पंचेन्द्रिय-तिर्यग्योनिको वा पर्याप्तबादरवायुकायिको वा वैक्रियं करोति तदौदारिक शरीर योग एव वर्तमानः प्रदेशान् विक्षिप्य वैक्रियशरीरयोग्यान् पुद्गलाना-दाय यावद्वैक्रियशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तिं न गच्छति तावद्वैक्रियेण मिश्रता, व्यपदेश औदारिकस्य, प्रधानत्वात्। एवमाहारकेणापि सह मिश्रता द्रष्टव्या, आहारयति चैतेनैवेति तस्यैव व्यपदेश इति।"

अर्थात् औदारिकशरीर वाला-वैक्रियलब्धिधारक मनुष्य, पंचेन्द्रिय तिर्यंच या बादरपर्याप्त वायुकायिक जिस समय वैक्रिय शरीर रचता है उस समय वह, औदारिक शरीर में रहता हुआ अपने प्रदेशों को फैला कर, और वैक्रिय शरीर-योग्य पुद्गलों को लेकर जब तक वैक्रिय शरीर-पर्याप्ति को पूर्ण नहीं करता है, तब तक उसके औदारिक काययोग की वैक्रियशरीर के साथ मिश्रता है, परन्तु व्यवहार औदारिक को लेकर औदारिक-मिश्रता का करना चाहिये; क्योंकि उसी की प्रधानता है। इसी प्रकार आहारक शरीर करने के समय भी उसके साथ औदारिक काययोग की मिश्रता को जानलेना चाहिये।

पहले, दूसरे, चौथे और तेरहवें इन ४ गुणस्थानों ही में पाया जा सकता है।' पर सैद्धान्तिकों का आशय यह है कि जिस प्रकार कार्मण शरीर को लेकर औदारिक-मिश्रता मानी जाती है, इसी प्रकार लब्धिजन्य वैक्रियशरीर या आहारक शरीर के साथ भी औदारिक शरीर की मिश्रता मान कर औदारिकमिश्र काययोग मानने में कुछ बाधा नहीं है।

कार्मणकाययोग वाले जीवों में पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवां ये ४ गुणस्थान पाये जाते हैं। इनमें से तेरहवां गुणस्थान केवलसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में केवलि भगवान् को होता है। शेष तीन गुणस्थान अन्य जीवों को अन्तराल गति के समय तथा जन्म के प्रथम समय में होते हैं।

कार्मण काययोग का बन्धस्वामित्व, औदारिकमिश्रकाययोग के समान है, पर इसमें तिर्यञ्चआयु और मनुष्यआयु का बन्ध नहीं हो सकता। अतएव इसमें सामान्यरूप से ११२, पहले गुणस्थान में १०७, दूसरे में ६४, चौथे में * ७५ और तेरहवें गुणस्थान में १ प्रकृति का बन्ध होता है।

---

* यद्यपि कार्मणकाययोग का बन्धस्वामित्व औदारिकमिश्रकाययोग के समान कहा गया है और चतुर्थ गुणस्थानमें औदारिकमिश्रकाययोग में ७५ प्रकृतियों के बन्ध पर शंका उठा कर ७० प्रकृतियों के बन्ध का समर्थन किया गया है तथापि कार्मणकाययोग में चतुर्थ गुण-

आहारक काययोग और आहारकमिश्रकाययोग दोनों छट्टे ही गुणस्थान में पाये जा सकते हैं, इसालिये उनमेंउस गुणस्थान की वन्ध-योग्य ६३ † प्रकृतियों ही का वन्धस्वामित्व दर्साया गया है ॥ १५ ॥

स्थान के समय पूर्वोक्त शंका समाधान की कोई आवश्यकता नहीं; क्यों कि औदारिकमिश्रकाययोग के अधिकारी तिर्यंच तथा मनुष्य ही हैं जोकि मनुष्य-द्विक आदि ५ प्रकृतियों को नहीं बांधते; परंतु कार्मणकाय-योग के अधिकारी मनुष्य तथा तिर्यञ्च के अतिरिक्त देव तथा नारक भी हैं जोकि मनुष्य-द्विक से लेकर वज्रऋषभनाराचसंहनन तक ५ प्रकृतियों को बांधते हैं। इसीसे कार्मण काययोग की चतुर्थ गुणस्थान सम्बन्धिनी बन्ध्य ७५ प्रकृतियों में उक्त पांच प्रकृतियों की गणना है।

† यथाः— " तेवट्ठाहारदुगे जहा पमत्तस्स " इत्यादि।
[प्राचीन बन्धस्वामित्व. गा० ३२]

किन्तु आहारकमिश्रकाययोग में देवआयु का बन्ध गोम्मटसार नहीं मानता, इससे उसके मतानुसार उस योग में ६२ प्रकृतियों ही का बन्ध होता है। यथाः—

" छट्ठगुणं वाहारे, तम्मिस्से णत्थि देवाऊ। "
[कर्मकाण्ड. गा० ११८]

अर्थात् आहारक काययोग में छट्ठे गुणस्थान की तरह बन्धस्वामित्व है, परन्तु आहारकमिश्रकाययोग में देवायु का बन्ध नहीं होता।

सुरओहो वेउव्वे, तिरियनराउ रहिओ य तम्मिस्से ।
वेयतिगाइम वियतिय-कसाय नवदुचउपंचगुणे ॥ १६ ॥

सुरौघो वैक्रिये तिर्यङ्नरायूरहितश्च तन्मिश्रे ।
वेद-त्रिकादिमद्वितीयतृतीयकषाया नवद्विचतुष्पञ्चगुणे ॥ १६ ॥

अर्थ—वैक्रिय काययोग में देवगति के समान बन्धस्वामित्व है । वैक्रियमिश्रकाययोग में तिर्यञ्चआयु और मनुष्यआयु के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का बन्ध वैक्रिय काययोग के समान है। (वेद और कषाय मार्गणा का बन्धस्वामित्व) तीन वेद में ९ गुणस्थान हैं। आदिम—पहले ४ अनन्तानुबन्धी-कषायों में पहला दूसरा दो गुणस्थान हैं । दूसरे—अप्रत्याख्यानावरण—कषायों में पहिले ४ गुणस्थान हैं । तीसरे—प्रत्याख्यानावरण—कषायों में पहिले ५ गुणस्थान हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—वैक्रिय काययोग। इसके अधिकारी देव तथा नारक ही हैं। इससे इसमें गुणस्थान देवगति के समान ४ ही माने हुए हैं और इसका बन्धस्वामित्व भी देवगति के समान ही अर्थात् सामान्यरूप से १०४, पहले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का है ।

वैक्रियमिश्रकाययोग । इस के स्वामी भी देव तथा नारक ही हैं, पर इसमें आयु का बन्ध असम्भव है; क्योंकि यह योग अपर्याप्त अवस्था ही में देवों तथा नारकों को होता है, लेकिन देव तथा नारक पर्याप्त अवस्था में, अर्थात् ६ महीने

प्रमाण आयु बाकी रहने पर ही, आयु-बन्ध करते हैं। इसीसे इस योग में तिर्यञ्चआयु और मनुष्यआयु के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व वैक्रिय काययोग के समान कहा गया है।

वैक्रियमिश्रकाययोग में वैक्रिय काययोग से एक भिन्नता और भी है। वह यह है कि उसमें चार गुणस्थान हैं पर इसमें *तीन ही; क्यों कि यह योग अपर्याप्त अवस्था ही में होता है इससे इसमें अधिक गुणस्थान असम्भव हैं। अतएव इसमें सामान्यरूप से १०२, पहले गुणस्थान में १०१, दूसरे में ६६ और चौथे में ७२ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये।

पाँचवें गुणस्थान में वर्तमान +अम्बड परिव्राजक आदि ने तथा छट्ठे गुणस्थान में वर्तमान विष्णुकुमार आदि मुनि ने वैक्रिय लब्धि के बल से वैक्रिय शरीर किया था—यह बात शास्त्र में प्रसिद्ध है। इससे यद्यपि वैक्रिय काययोग तथा वैक्रियमिश्रकाययोग का पाँचवें और छट्ठे गुणस्थान में होना सम्भव है, तथापि वैक्रियकाययोग वाले जीवों को पहले

---

* [प्राचीन बन्धस्वामित्व-टीका पृ० १०९]—

"मिच्छे सासाणे वा अविरयसम्मम्मि अहव गहियम्मि
जंति जिया परलोए, सेसेक्कारसगुणे मोत्तुं ॥ १ ॥

अर्थात् जीव मरकर परलोक में जाते हैं, तब वे पहले, दूसरे या चौथे गुणस्थान को ग्रहण किये हुये होते हैं, परन्तु इन तीन के सिवाय शेष ग्यारह गुणस्थानों को ग्रहण कर परलोक के लिये कोई जीव गमन नहीं करता।

+ (औपपातिक सूत्र पृ० ९६)

चार ही और वैक्रियमिश्रकाययोग वाले जवों को पहला, दूसरा और चौथा ये तीन ही गुणस्थान बतलाये गये हैं, इसका कारण यह जान पड़ता है कि 'लब्धि-जन्य वैक्रियशरीर की अल्पता (कमी) के कारण उससे होने वाले वैक्रिय काययोग तथा वैक्रियमिश्रकाययोग की विवक्षा आचार्यों ने नहीं की है। किन्तु उन्हों ने केवल भव-प्रत्यय वैक्रियशरीर को लेकर ही वैक्रियकाययोग तथा वैक्रियमिश्रकाययोग में क्रम से उक्त चार और तीन गुणस्थान बतलाये हैं।'

* वेद। इन में ६ गुणस्थान माने जाते हैं, सो इस अपेक्षा से कि तीनों प्रकार के वेद का उदय नववें गुणस्थान तक ही होता है, आगे नहीं। इसलिये नवों गुणस्थानों में वेद का बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार की तरह—अर्थात् सामान्य-रूप से १२०, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७, पाँचवें में ६७, छट्ठे में ६३, सातवें में ५८, या ५६, आठवें में ५८, ५६ तथा २६ और नववें गुणस्थान में २२ प्रकृतियों का है।

---

* वेद मार्गणा से लेकर आहारक मार्गणा, जो १६ वीं गाथा में निर्दिष्ट है, वहां तक सब मार्गणाओं में यथासम्भव गुणस्थान ही का कथन किया गया है—बन्धस्वामित्व का जुदा जुदा कथन नहीं किया है। परन्तु १९ वीं गाथा के अन्त में "नियनिय गुणोहो" यह पद है, उसकी अनुवृत्ति करके उक्त सब वेद आदि मार्गणाओं में बन्धस्वामित्व का कथन भावार्थ में कर दिया है। 'नियनिय गुणोहो' इस पद का मतलब यह है कि वेद आदि मार्गणाओं का अपने अपने गुणस्थानों में बन्धस्वामित्व ओघ—बन्धाधिकार के समान समझना।

अनन्तानुबन्धी कषाय। इनका उदय पहले, दूसरे दो गुणस्थानों ही में होता है, इसी से इनमें उक्त दो ही गुणस्थान माने जाते हैं। उक्त दो गुणस्थान के समय न तो सम्यक्त्व होता है और न चारित्र। इसीसे तीर्थंकर नामकर्म (जिस का बन्ध सम्यक्त्व से ही हो सकता है) और आहारक-द्विक (जिसका बन्ध चारित्र से ही होता है)—ये तीन प्रकृतियाँ अनन्तानुबन्धि-कषाय वालों के सामान्य बन्ध में से वर्जित हैं। अतएव वे सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में ११७ और दूसरे में १०१ प्रकृतियों को बाँधते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय। इन का उदय ४ गुण-स्थान पर्यन्त ही होने के कारण इनमें ४ ही गुणस्थान माने जाते हैं। इन कषायों के समय सम्यक्त्व का सम्भव होने के कारण तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो सकता है, पर चारित्र का अभाव होने से आहारक-द्विक का बन्ध नहीं हो सकता। अतएव इन कषायों में सामान्यरूप से ११८, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में ७७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये।

प्रत्याख्यानावरण कषाय। ये ५ गुणस्थान-पर्यन्त उदयमान रहते हैं, इससे इनमें पाँच गुणस्थान पाये जाते हैं। इन कषायों के समय भी सर्व-विरति चारित्र न होने से आहारक-द्विक का बन्ध नहीं हो सकता, पर तीर्थंकर नामकर्म

का बन्ध हो सकता है। इसीसे इनमें भी सामान्यरूप से ११८, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७ और पाँचवें में ६७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व जानना॥ १६ ॥

संजलणतिगे नव दस, लोहे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे।
बारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अहखाय चरमचउ ॥१७॥

संज्वलनत्रिके नव दश लोभे चत्वार्ययते द्वे त्रीण्यज्ञानत्रिके।
द्वादशाऽचक्षुश्चक्षुषोः प्रथमानि यथाख्याते चरम चत्वारि ॥१७॥

अर्थ—संज्वलन-त्रिक (संज्वलन क्रोध, मान, माया) में ९ गुणस्थान हैं। संज्वलन लोभ में १० गुणस्थान हैं। (संयम, ज्ञान, और दर्शन मार्गणा का बन्धस्वामित्व)—अविरति में ४ गुणस्थान हैं। अज्ञान-त्रिक में—मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंगज्ञान में—दो या तीन गुणस्थान हैं। अचक्षुर्दर्शन और चक्षुर्दर्शन में पहिले १२ गुणस्थान हैं। यथाख्यातचारित्र में अन्तिम ४ अर्थात् ग्यारहवें से चौदहवें तक गुणस्थान हैं ॥१७॥

भावार्थ—

संज्वलन। ये कषाय ४ हैं। जिन में से क्रोध, मान और माया में ९ तथा लोभ में १० गुणस्थान हैं। इन चारों कषायों का बन्धस्वामित्व सामान्यरूप से और विशेषरूप से—अपने अपने गुणस्थानों में—बन्धाधिकार के समान ही है।

अविरति। इस में पहले ४ गुणस्थान हैं। जिनमें से चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने के कारण तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध का सम्भव है, परन्तु आहारकद्विक का बन्ध—जोकि संयम-सापेक्ष है—इस में नहीं हो सकता। इसलिये अविरति में सामान्यरूप से आहारकद्विक के सिवाय ११८, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

अज्ञान-त्रिक। इसमें दो या तीन गुणस्थान हैं। इसलिये इसके सामान्यबन्ध में से जिननामकर्म और आहारक-द्विक, ये तीन प्रकृतियाँ कम कर दी गई हैं; जिससे सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, और तीसरे में ७४ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व है।

अज्ञान-त्रिक में दो या तीन गुणस्थान * माने जाने का आशय यह है कि 'तीसरे गुणस्थान में वर्तमान जीवों की दृष्टि न तो सर्वथा शुद्ध होती है और न सर्वथा अशुद्ध, किन्तु किसी अंश में शुद्ध तथा किसी अंश में अशुद्ध-मिश्र-होती है। इस मिश्रदृष्टि के अनुसार उन जीवों का ज्ञान भी मिश्र-

---

* इसका और भी खुलासा चौथे कर्मग्रन्थ में २० वीं गाथा की व्याख्या में देखो।

रूप—किसी अंश में ज्ञानरूप तथा किसी अंश में अज्ञानरूप—माना जाता है। *जब दृष्टि की शुद्धि की अधिकता के कारण मिश्रज्ञान में ज्ञानत्वकी मात्रा अधिक होती है और दृष्टिकी अशुद्धि की कमी के कारण अज्ञानत्व की मात्रा कम, तब उस मिश्रज्ञान को ज्ञान मान कर मिश्रज्ञानी जीवों की गिनती ज्ञानी जीवों में की जाती है। अतएव उस समय पहले और दूसरे दो गुणस्थान के सम्बन्धी जीव ही अज्ञानी समझने चाहिये। पर जब दृष्टि की अशुद्धि की अधिकता के कारण मिश्रज्ञान में अज्ञानत्व की मात्रा अधिक होती है और दृष्टि की शुद्धि की कमी के कारण ज्ञानत्वकी मात्रा कम, तब उस मिश्रज्ञान को अज्ञान मान कर मिश्रज्ञानी जीवों की गिनती अज्ञानी जीवों में की जाती है। अतएव उस समय पहले, दूसरे और तीसरे इन तीनों गुणस्थानों के सम्बन्धी जीव अज्ञानी समझने चाहिये। चौथे से लेकर आगे के सब गुणस्थानों के समय सम्यक्त्व-गुण के प्रकट होने से जीवों की दृष्टि शुद्ध ही होती है—अशुद्ध नहीं, इसलिये उन जीवों का ज्ञान ज्ञानरूप ही (सम्यग्ज्ञान) माना जाता है, अज्ञान नहीं। किसी के ज्ञान की यथार्थता या अयथार्थता का निर्णय, उसकी दृष्टि(श्रद्धात्मक परिणाम)की शुद्धि या अशुद्धि पर निर्भर है।[१]

* जो, मिथ्यात्व गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान में आता है, उसकी मिश्रदृष्टि में मिथ्यात्वांश अधिक होने से अशुद्धि विशेष रहती है, और जो, सम्यक्त्व को छोड़ तीसरे गुणस्थान में आता है, उसकी मिश्रदृष्टिमें सम्यक्त्वांश अधिक होने से शुद्धि विशेष रहती है।

अचक्षुर्दर्शन और चक्षुर्दर्शन। इन में पहले १२ गुणस्थान हैं। इनका बन्धस्वामित्व, सामान्यरूप से या प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान है।

यथाख्यातचारित्र। इसमें अन्तिम ४ गुणस्थान हैं। उनमें से चौदहवें गुणस्थान में तो योग का अभाव होने से बन्ध होता ही नहीं। ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानों में बन्ध होता है, पर सिर्फ सातवेदनीयका। इसलिये इस चारित्र में सामान्य और विशेषरूप से एक प्रकृति ही का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये ॥ १७ ॥

मणनाणि सग जयाई, समइयछेय चउ दुन्नि परिहारे।
केवलदुगि दो चरमा-ऽजयाइ नव मइसुओहिदुगे ॥ १८ ॥

मनोज्ञाने सप्त यतादीनि सामायिकच्छेदे चत्वारि द्वे परिहारे।
केवलद्विके द्वे चरमेऽयतादीनि नव मतिश्रुतावधिद्विके ॥ १८ ॥

अर्थ—मनःपर्यायज्ञान में यत—प्रमत्तसंयत—आदि ७ अर्थात् छट्ठे से बारहवें तक गुणस्थान हैं। सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र में प्रमत्तसंयत आदि ४ गुणस्थान हैं। परिहारविशुद्धचारित्र में प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान हैं। केवल-द्विक में अन्तिम दो गुणस्थान हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, और अवधि-द्विक में अयत—अविरतसम्यग्दृष्टि—आदि ९ अर्थात् चौथे से बारहवें तक गुणस्थान हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—

मनःपर्यायज्ञान। इसका आविर्भाव तो सातवें गुणस्थान में होता है, पर इसकी प्राप्ति होने के बाद मुनि, प्रमाद-वश छट्ठे गुणस्थान को पा भी लेता है। इस ज्ञान को धारण करने वाला, पहले पाँच गुणस्थानों में वर्तमान नहीं रहता। तथा अन्तिम दो गुणस्थानों में भी यह ज्ञान नहीं रहता; क्योंकि उन दो गुणस्थानों में क्षायिकज्ञान होने के कारण किसी क्षायोपशमिक ज्ञान का सम्भव ही नहीं है। इसलिये मनःपर्याय ज्ञान में उपर्युक्त ७ गुणस्थान माने हुये हैं। इसमें आहारकद्विक के बन्ध का भी सम्भव है। इसीसे इस ज्ञान में सामान्यरूप से ६५ और छट्ठे से बारहवें तक प्रत्येक गुण-स्थान में बन्धाधिकार के समान ही प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना।

सामायिक और छेदोपस्थापनीय। ये दो संयम छट्ठे आदि ४ गुणस्थान पर्यन्त पाये जाते हैं। इसलिये इनके समय आहारक द्विक के बन्ध का सम्भव है। अतएव इन संयमों का बन्धस्वामि-त्व सामान्यरूप से ६५ प्रकृतियों का और छट्ठे आदि प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान ही है।

परिहारविशुद्धिकसंयम। इसे धारण करनेवाला सातवें से आगे के गुणस्थानों को नहीं पा सकता। इस संयमके समय यद्यपि

आहारक-द्विक*का उदय नहीं होता, पर उसके बन्ध का सम्भव है। इसलिये इसका बन्धस्वामित्व सामान्यरूप से ६५ प्रकृतियों का और विशेषरूप से बन्धाधिकार के समान—अर्थात् छट्ठे गुणस्थान में ६३, सातवें में ५६ या ५८प्रकृतियों का है।

केवलद्विक। इसके दो गुणस्थानों में से चौदहवें में तो बन्ध होता ही नहीं, तेरहवें में होता है पर सिर्फ सातवेदनीय का। इसलिये इसका सामान्य तथा विशेष बन्धस्वामित्व एक ही प्रकृति का है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक। इन ४ मार्गणाओं में पहले तीन गुणस्थान तथा अन्तिम दो गुणस्थान नहीं होते; क्योंकि प्रथम तीन गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व न होने से अज्ञान माना जाता है, और अन्तिम दो गुणस्थानों में ज्ञान होता है सही पर वह क्षायिक, क्षायोपशमिक नहीं। इसी कारण इनमें उपर्युक्त ६ गुणस्थान माने हुये हैं। इन ४ मार्गणाओं में भी आहारकद्विक के बन्ध का सम्भव होने के कारण सामान्यरूप से ७६ प्रकृतियों का और चौथे से बारहवें तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान बन्धस्वामित्व जानना॥ १८॥

---

*परिहारविशुद्ध संयमी को दस पूर्व का भी पूर्ण ज्ञान नहीं होता। इससे उसको आहारक-द्विक का उदय असंभव है; क्योंकि इसका उदय चतुर्दशपूर्वधारी जो कि आहारक शरीर को बना सकता है—उसी को होता है।

"दो गाथाओं से सम्यक्त्व मार्गणा का बन्धस्वामित्व ।"

अडउवसमि चउ वेयगि, खइये इक्कार मिच्छतिगि देसे ।
सुहुमि सठाणं तेरस, आहारगि नियनियगुणोहो ॥१६॥

अष्टोपशमे चत्वारि वेदके क्षायिक एकादश मिथ्यात्वत्रिके देशे ।
सूक्ष्मे स्वस्थानं त्रयोदशाऽऽहारके निजनिजगुणौघः ॥ १९ ॥

अर्थ—उपशम सम्यक्त्व में आठ–चौथे से ग्यारहवें तक गुणस्थान हैं। वेदक (क्षायोपशमिक) में ४ गुणस्थान–चौथे से सातवें तक–हैं। मिथ्यात्व-त्रिक में (मिथ्यात्व,सास्वादन और मिश्रदृष्टि में), देशविरति में और सूक्ष्मसम्पराय में अपना अपना एक ही गुणस्थान है। आहारक मार्गणा में १३ गुणस्थान हैं। वेद-त्रिक से लेकर यहाँ तक की सब मार्गणाओं का बन्ध स्वामित्व अपने अपने गुणस्थान के विषय में ओघ–बन्धाधिकार के समान-है ॥१६॥

भावार्थ

उपशम सम्यक्त्व। यह सम्यक्त्व, देशविरति, प्रमत्त संयत-विरति या अप्रमत्तसंयत-विरति के साथ भी प्राप्त होता है। इसी कारण इस सम्यक्त्व में चौथे से सातवें तक ४ गुणस्थान माने जाते हैं। इसी प्रकार आठवें से ग्यारहवें तक ४ गुणस्थानों में वर्तमान उपशमश्रेणीवाले जीव को भी यह सम्यक्त्व रहता है। इसलिये इसमें सब मिलाकर ८ गुणस्थान कहे

हुये हैं। इस सम्यक्त्व के समय आयु का वन्ध नहीं होता-यह वात अगली गाथा में कही जायगी। इससे चौथे गुणस्थान में तो देवआयु, मनुष्यआयु, दोनों का वन्ध नहीं होता और पांचवें आदि गुणस्थान में देवआयु का वन्ध नहीं होता। अत-एव इस सम्यक्त्व में सामान्यरूप से ७७प्रकृतियों का, चोथे गुण-स्थान में ७५, पांचवें में ६६, छट्ठे में ६२, सातवें में ५८, आठवें में ५८-५६-२६, नववें में २२-२१-२०-१६-१८, दसवें में १७ और ग्यारहवें गुणस्थान में १ प्रकृतिका वन्धस्वामित्व है।

वेदक। इस सम्यक्त्व का संभव चौथे से सातवें तक चार गुणस्थानों में है। इसमें आहारक-द्विक के वन्ध का संभव है जिससे इसका वन्धस्वामित्व, सामान्यरूप से ७६ प्रकृतियों का, विशेष रूप से—चौथे गुणस्थान में ७७, पांचवें में ६७, छट्ठे में ६३ और सातवें में ५६ या ५८ प्रकृतियों का है।

क्षायिक। यह चौथे से चौदहवें तक ११ गुणस्थानों में पाया जा सकता है। इसमें भी आहारकाद्विक का वन्ध हो सकता है। इसलिये इसका वन्धस्वामित्व, सामान्यरूपसे ७६ प्रकृतियों का और चौथे आदि प्रत्येक गुणस्थान में वन्धा-धिकार के समान है।

मिथ्यात्व-त्रिक। इसमें एक एक गुणस्थान है—मिथ्यात्व मार्गणा में पहला, सास्वादन मार्गणा में दूसरा और मिश्रदृष्टि

में तीसरा गुणस्थान है। अतएव इस त्रिक का सामान्य व विशेष बन्धस्वामित्व बराबर ही है; जैसे:—सामान्य तथा विशेषरूप से मिथ्यात्व में ११७, सास्वादन में १०१ और मिश्रदृष्टि में ७४ प्रकृतियों का।

देशविरति और सूक्ष्मसम्पराय। ये दो संयम भी एक एक गुणस्थान ही में माने जाते हैं। देशविरति, केवल पांचवें गुणस्थान में और सूक्ष्मसम्पराय, केवल दसवें गुणस्थान में है। अतएव इन दोनों का बन्धस्वामित्व भी अपने अपने गुण-स्थान में कहे हुये बन्धाधिकार के समान ही है अर्थात् देश-विरति का बन्धस्वामित्व ६७ प्रकृतियों का और सूक्ष्मसम्पराय का १७ प्रकृतियों का है।

आहारकमार्गणा। इसमें तेरह गुणस्थान माने जाते हैं। इसका बन्धस्वामित्व सामान्यरूप से तथा अपने प्रत्येक गुण-स्थान में बन्धाधिकार के समान है॥ १९॥

"उपशम सम्यक्त्व के सम्बन्ध में कुछ
विशेषता दिखाते हैं:— "

परमुवसमि वट्टंता, आउ न बंधंति तेण अजयगुणे ।
देवमणुआउहीणो, देसाइसु पुण सुराउ विणा ॥२०॥*

परमुपशमे वर्तमाना आयुर्न बध्नन्ति तेनायतगुणे ।
देवमनुजायुर्हीनो देशादिषु पुनः सुरायुर्विना ॥ २० ॥

अर्थ—उपशम सम्यक्त्व में वर्तमान जीव, आयु-बन्ध नहीं करते, इससे अयत–अविरतसम्यग्दृष्टि–गुणस्थान में देवआयु तथा मनुष्यआयु को छोड़कर अन्य प्रकृतियों का बन्ध होता है। और देशविरति आदि गुणस्थानों में देवआयु के विना अन्य स्वयोग्य प्रकृतियों का बन्ध होता है।

भावार्थ—अन्य सम्यक्त्वों की अपेक्षा औपशमिक सम्यक्त्वमें विशेषता यह है कि इसमें वर्तमान जीव के अध्य-

---

* इस गाथा के विषय को स्पष्टता के साथ प्राचीन बन्धस्वामित्व में इसप्रकार कहा है:—

"उवसम्मे वट्टंता, चउण्हमिक्कंपि आउयं नेय ।
बंधंति तेण अजया, सुरनर आऊहिं ऊणंतु ॥ ५१ ॥

ओघो देस जयाइसु, सुराउहीणो उ जाव उवसंतो" इत्यादि ॥५२॥

वसाय ऐसे ‡ नहीं होते, जिनसे कि आयु-बन्ध किया जा सके। अतएव इस सम्यक्त्व के योग्य ८ गुणस्थान, जो पिछली गाथा में कहे गये हैं उनमें से चौथे से सातवें तक ४ गुणस्थानों में—जिनमें कि आयु-बन्ध का सम्भव है—आयु-बन्ध नहीं होता।

चौथे गुणस्थान में उपशम सम्यक्त्वी को देवआयु, मनुष्य-आयु दो का वर्जन इसलिये किया है कि उसमें उन दो आयुओं के ही बन्धका सम्भव है, अन्य आयुओं के बन्ध

---

‡ उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का है—पहले प्रकार का ग्रन्थिभेद-जन्य, जो पहले पहल अनादि मिथ्यात्वी को होता है। दूसरे प्रकार का उपशमश्रेणि में होने वाला, जो आठवें से ग्यारहवें तक ४ गुणस्थानों में पाया जा सकता है। पिछले प्रकार के सम्यक्त्व-सम्बन्धी गुणस्थानों में तो आयु का बन्ध सर्वथा वर्जित है। रहे पहले प्रकार के सम्यक्त्व सम्बन्धी चौथे से सातवें तक ४ गुणस्थान। सो उनमें भी औपशमिक सम्यक्त्वी आयु-बन्ध नहीं कर सकता। इसमें प्रमाण यह पाया जाता है:—

"अणबंधोदयमाउगबंधं कालं च सासणो कुणई।
उवसमसम्मदिट्ठी चउण्हमिक्कंपि नो कुणई॥ १॥"

अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय का बन्ध, उसका उदय, आयु का बन्ध और मरण—इन ४ कार्यों को सास्वादन सम्यग्दृष्टि कर सकता है, पर इन में से एक भी कार्य को उपशम सम्यग्दृष्टि नहीं कर सकता।

इस प्रमाण से यही सिद्ध होता है कि उपशम सम्यक्त्व के समय आयु-बन्ध-योग्य परिणाम नहीं होते।

का नहीं; क्योंकि चौथे गुणस्थान में वर्तमान देव तथा नारक, मनुष्यआयु को ही बांध सकते हैं और तिर्यञ्च तथा मनुष्य, देवआयु को ही।

उपशम सम्यक्त्वी के पांचवें आदि गुणस्थानों के बन्ध में केवल देवआयु को छोड़ दिया है। इस का कारण यह है कि उन गुणस्थानों में केवल देवआयु के बन्ध का सम्भव है; क्योंकि पांचवें गुणस्थान के अधिकारी तिर्यञ्च तथा मनुष्य ही हैं और छट्ठे सांतवें गुणस्थान के अधिकारी मनुष्य ही हैं, जो केवल देवआयु का बन्ध कर सकते हैं ॥ २० ॥

"दो गाथाओं में लेश्या का बन्धस्वामित्व।"

ओहे अट्ठारसयं, आहारदुगूण-माइलेसतिगे।
तं तित्थोणं मिच्छे, साणाइसु सव्वहिं ओहो ॥ २१ ॥

ओघेऽष्टादशशतमाहारकद्विकोनमादिलेश्या त्रिके।
तत्तीर्थोनं मिथ्यात्वे सासादनादिषु सर्वत्रौघः ॥ २१ ॥

अर्थ—पहली तीन—कृष्ण, नील, कापोत—लेश्याओं में आहारक-द्विक को छोड़, १२० में से शेष ११८ प्रकृतियों का ओघ—सामान्य—बन्धस्वामित्व है। मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म के सिवाय ११८ में से शेष ११७ का बन्धस्वामित्व है। और सास्वादन आदि अन्य सब—दूसरा, तीसरा, चौथा तीन—गुणस्थानों में ओघ (बन्धाधिकार के समान) प्रकृति-बंध है ॥ २१ ॥

भावार्थ—लेश्यायें ६ हैं:—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) तेजः, (५) पद्म और (६) शुक्ल।

कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले आहारक-द्विक को इस कारण बाँध नहीं सकते कि वे *अधिक से अधिक छः गुणस्थानों में वर्तमान माने जाते हैं; पर आहारकद्विक का बन्ध सातवें के सिवाय अन्य गुणस्थानों में नहीं होता। अतएव वे सामान्यरूप से ११८ प्रकृतियों के, पहले गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म के सिवाय ११७ प्रकृतियों के, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में ‡ ७७ प्रकृतियों के बन्धाधिकारी हैं॥ २१॥

---

* 'अधिक से अधिक' कहने का मतलब यह है कि यद्यपि इस कर्मग्रन्थ (गाथा २४) में कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले, ४ गुणस्थानों ही के अधिकारी माने गये हैं, पर चौथे कर्मग्रन्थ (गाथा २३) में उन्हें ६ गुणस्थान के अधिकारी बतलाया है।

‡ चौथे गुणस्थान के समय कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में ७७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व 'साणाइसु सव्वहिं ओहो' इस कथन से माना हुआ है।

इसका उल्लेख प्राचीन बन्धस्वामित्व में स्पष्टरूप से है:—

"सुरनरआउयसहिया, अविरयसम्माउ होंति नायव्वा।
तित्थयरेण जुया तह, तेऊलेसे परं वोच्छं॥ ४२॥"

इससे यह बात स्पष्ट है कि उक्त ७७ प्रकृतियों में मनुष्य-आयु की तरह देव-आयु की गिनती है। गोम्मटसार में बन्धोदयसत्वाधिकार की गाथा ११९ वीं में वेद-मार्गणा से लेकर आहारक-मार्गणा पर्यन्त सब मार्गणाओं का बन्धस्वामित्व, गुणस्थान के समान कहा है।

तेऊ नरयनवूणा, उज्जोयचउ नरयबार विणु सुक्का ।
विणु नरयबार पम्हा, अजिणाहारा इमा मिच्छे ॥२२॥

तेजोनरकनवोना उद्योतचतुर्नरकद्वादश विना शुक्लाः ।
विना नरकद्वादश पद्मा अजिनाहारका इमा मिथ्यात्वे ॥२२॥

इन मार्गणाओं में लेश्या-मार्गणा का समावेश है । इससे कृष्ण आदि तीन लेश्याओं का चतुर्थ गुणस्थान-सम्बन्धी ७७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व, गोम्मटसार को भी अभिमत है । क्योंकि उसके बन्धोदयसत्त्वाधिकार की गा० १०३ में चौथे गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध स्पष्टरूप से माना हुआ है ।

इस प्रकार कृष्ण आदि तीन लेश्या के चतुर्थ गुणस्थान-सम्बन्धी बन्धस्वामित्व के विषय में कर्मग्रन्थ और गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) दोनों का कोई मतभेद नहीं है ।

परन्तु इस पर श्री जीवविजयजी ने और श्री जयसोमसूरि ने इस गाथा के अपने अपने टबे में एक शंका उठाई है, वह इस प्रकार है:—

"कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले, जो चौथे गुणस्थान में वर्त्तमान हैं उन को देव-आयु का बन्ध माना नहीं जा सकता; क्योंकि श्री भगवती सिद्धान्त, शतक ३० के पहले उद्देश में कृष्ण-नील-कापोत लेश्यावाले, जो सम्यक्त्वी हैं उनके आयु-बन्ध के सम्बन्ध में श्रीगौतम स्वामी के प्रश्न पर भगवान महावीर ने कहा है कि—'कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले सम्यक्त्वी, मनुष्य-आयु ही को बांध सकते हैं; अन्य आयु को नहीं ।' इसी उद्देश में श्रीगौतम स्वामी के अन्य प्रश्न का उत्तर देते हुये भगवान् ने यह भी कहा है कि—'कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले तिर्यञ्च तथा मनुष्य, जो सम्यक्त्वी हैं वे किसी भी आयु को नहीं बांधते ।' इस प्रश्नोत्तर का सारांश इतना ही है कि उक्त तीन लेश्यावाले सम्यक्त्वी जो मनुष्य-आयु का बन्ध होता है, अन्य आयुओं का नहीं,

अर्थ—तेजोलेश्या का बन्धस्वामित्व नरक-नवक—नरक त्रिक, सूक्ष्मत्रिक और विकल-त्रिक—के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का है। उद्योत-चतुष्क (उद्योत नामकर्म, तिर्यञ्च-द्विक, तिर्यंच आयु) और नरक-द्वादश (नरकत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकेंद्रिय, स्थावर, आतप) इन सोलह प्रकृतियों को

सो भी देवों तथा नारकों की अपेक्षा से। श्रीभगवती के उक्त मतानुसार कृष्ण आदि तीन लेश्याओं का चतुर्थ गुणस्थान-सम्बन्धी बन्धस्वामित्व देव-आयु-रहित अर्थात् ७६ प्रकृतियों का माना जाना चाहिए, जो कर्मग्रन्थ में ७७ प्रकृतियों का माना गया है।"

उक्त शंका (विरोध) का समाधान कहीं दिया नहीं गया है। टबाकारों ने बहुश्रुत-गम्य कह कर उसे छोड़ दिया है। गोम्मटसार में तो इस शंका के लिये जगह ही नहीं है। क्योंकि उसे भगवती का पाठ मान्य करने का आग्रह नहीं है। पर भगवती को माननेवाले कार्मग्रन्थिकों के लिये यह शंका उपेक्षणीय नहीं है।

उक्त शंका के सम्बन्ध में जब तक किसी की ओर से दूसरा प्रामाणिक समाधान प्रकट न हो, यह समाधान मान लेने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती कि कृष्ण आदि तीन लेश्यावाले सम्यक्त्वियों के प्रकृति-बन्ध में देवआयु की गणना की गयी है सो कार्मग्रन्थिक मत के अनुसार; सैद्धान्तिक मत के अनुसार नहीं।

कर्मग्रन्थ और सिद्धान्त का किसी २ विषय में मत-भेद है, यह बात चौथे कर्मग्रन्थ की ४९ वीं गाथा में उल्लिखित सैद्धान्तिक मत से निर्विवाद सिद्ध है। इसलिये इस कर्मग्रन्थ में भी उक्त देव-आयु का बन्ध होने न होने के सम्बन्ध में कर्मग्रन्थ और सिद्धान्त का मत भेद मान कर आपस के विरोध का परिहार कर लेना अनुचित नहीं।

छोड़कर अन्य सब प्रकृतियोंका बन्धस्वामित्व शुक्लेश्या में है। उक्त नरक-द्वादश के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का बन्ध पद्म-लेश्या में होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में तेज आदि उक्त तीन लेश्याओं का बन्धस्वामित्व तीर्थंकर नामकर्म और आहारक-द्विक को छोड़कर समझना॥ २२॥

भावार्थ—

तेजोलेश्या। यह लेश्या, पहले सात गुणस्थानों में पायी जाती है। इसके धारण करने वाले उपर्युक्त नरक आदि ६

ऊपर जिस प्रश्नोत्तर का कथन किया गया है उसका आवश्यक मूल पाठ नीचे दिया जाता है:—

कण्हलेस्साणं भंते! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पकरेंति पुच्छा? गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पकरेंति, णो देवाउयं पकरेंति। अकिरिया अण्णाणिय वेणइयवादी य चत्तारिवि आउयं पकरेंति। एवं णील लेस्सावि काउलेस्सावि।

कण्हलेस्साणं भंते! किरियावादी पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं णेरइयाउयं पुच्छा? गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्ख-जोणियाउयं पकरेंति, णो मणुस्साउयं पकरेंति णो देवाउयं पकरेंति। अकिरियावादी अण्णाणियवादी वेणइयवादी चउव्विहंपि पकरेंति। जहा कण्हलेस्सा एवं णीललेस्सावि काउलेस्सावि।

जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं वत्तव्वा भणिया एवं मणुस्सा-णवि भाणियव्वा।

इस पाठ के 'किरियावादी' शब्द का अर्थ टीका में क्रियावादी-सम्यक्त्वी—किया गया है।

प्रकृतियों को बाँध नहीं सकते। क्योंकि उक्त ६ प्रकृतियाँ, कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओं से ही बाँधी जाती हैं। इसलिये तेजोलेश्या वाले, उन स्थानों में पैदा नहीं होते जिनमें--नरक-गति, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, और विकलेन्द्रिय में--उक्त ६ प्रकृतियों का उदय होता है। अतएव तेजोलेश्या में सामान्यरूप से १११ प्रकृतियों का, पहले गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म और आहा-रक-द्विक के सिवाय १११ में से शेष १०८ का और दूसरे से सातवें तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के अनुसार बन्धस्वामित्व है।

पद्मलेश्या। यह भी पहले सात ही गुणस्थानों में पायी जाती है। तेजोलेश्या से इसमें विशेषता यह है कि इसके धारण करने वाले उक्त नरक-नवक के अतिरिक्त एकेन्द्रिय, स्था-वर और आतप इन तीन प्रकृतियों को भी नहीं बाँधते। इसी से पद्म लेश्या के सामान्य बन्ध में १२ प्रकृतियाँ छोड़कर १०८ प्रकृतियाँ गिनी जाती हैं। तेजोलेश्या वाले, एकेन्द्रियरूप से पैदा हो सकते हैं, पर पद्मलेश्या वाले नहीं। इसी कारण एकेन्द्रिय आदि उक्त तीन प्रकृतियाँ भी वर्जित हैं। अतएव पद्म लेश्या का बन्धस्वामित्व, सामान्यरूप से १०८ प्रकृतियों का, पहले गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म तथा आहारक-द्विक के घटाने से १०५ का और दूसरे से सातवें तक प्रत्येक गुण-स्थान में बन्धाधिकार के समान समझना।

शुक्ललेश्या। यह लेश्या, पहले १३ गुणस्थानों में पायी जाती है। इसमें पद्मलेश्या से विशेषता यह है कि पद्मलेश्या की अबन्ध्य—नहीं बाँधने योग्य--प्रकृतियों के अलावा और भी ४ प्रकृतियाँ (उद्योत-चतुष्क) इसमें बांधी नहीं जातीं। इसका कारण यह है कि पद्मलेश्या वाले, तिर्यञ्च में--जहाँ कि उद्योत-चतुष्क का उदय होता है--जन्म ग्रहण करते हैं, पर शुक्ललेश्या वाले, उसमें जन्म नहीं लेते। अतएव कुल १६ प्रकृतियाँ सामान्य बन्ध में गिनी *नहीं जातीं। इसमें शुक्ल

---

* इस पर एक शंका होती है। सो इस प्रकार:—

ग्यारहवीं गाथा में तीसरे से आठवें देवलोक तक का बन्धस्वामित्व कहा है; इसमें छठे, सातवें और आठवें देवलोकों का—जिनमें तत्त्वार्थ अध्याय ४ सूत्र २३ के भाष्य तथा संग्रहणी-गाथा १७५ के अनुसार शुक्ल लेश्या ही मानी जाती है-बन्धस्वामित्व भी आजाता है। ग्यारहवीं गाथा में कहे हुये छठे आदि तीन देवलोकों के बन्धस्वामित्व के अनुसार, शुक्ललेश्या वाले भी उद्योत-चतुष्क को बांध सकते हैं, पर इस बाईसवीं गाथा में शुक्ल लेश्या का जो सामान्य बन्धस्वामित्व कहा गया है उसमें उद्योत-चतुष्क को नहीं गिना है, इसलिये यह पूर्वापर विरोध है।

श्री जीवविजयजी और श्री जयसोमसूरि ने भी अपने अपने टबे में उक्त विरोध को दर्साया है।

दिगम्बरीय कर्मशास्त्र में भी इस कर्मग्रन्थ के समान ही वर्णन है। गोम्मटसार (कर्मकाण्ड-गा० ११२) में सहस्रार देवलोक तक का जो बन्धस्वामित्व कहा गया है उसमें इस कर्मग्रन्थ की ग्यारहवीं

लेश्या का बन्धस्वामित्व सामान्यरूप से १०४ प्रकृतियों का, मिथ्यात्व गुणस्थान में जिननामकर्म और आहारक-द्विक के

गाथा के समान ही उद्योत-चतुष्क परिगणित है। तथा कर्मकाण्ड-गा. १२१ में शुक्ललेश्या का बन्धस्वामित्व कहा हुआ है जिसमें उद्योत चतुष्क का वर्जन है।

इस प्रकार कर्मग्रन्थ तथा गोम्मटसार में बन्धस्वामित्व समान होने पर भी दिगम्बरीय शास्त्र में उपर्युक्त विरोध नहीं आता। क्यों कि दिगम्बर-मत के अनुसार लान्तव (श्वेताम्बर-प्रसिद्ध लान्तक) देवलोक में पद्मलेश्या ही है- (तत्त्वार्थ-अध्याय-४-सू-२२की सर्वार्थसिद्धि-टीका)। अतएव दिगम्बरीय सिद्धान्तानुसार यह कहा जा सकता है कि सहस्रार देवलोक पर्यन्त के बन्धस्वामित्व में उद्योत-चतुष्क का परिगणन है सो पद्मलेश्या वालों की अपेक्षा से, शुक्ललेश्या वालों की अपेक्षा से नहीं।

परन्तु तत्त्वार्थ भाष्य, संग्रहणी आदि श्वेताम्बर-शास्त्र में देवलोकों की लेश्या के विषय में जैसा उल्लेख है उसके अनुसार उक्त विरोध का परिहार नहीं होता।

यद्यपि इस विरोध के परिहार के लिये श्री जीवविजयजी ने कुछ भी नहीं कहा है, पर श्री जयसोमसूरि ने तो यह लिखा है कि "उक्त विरोध को दूर करने के लिये यह मानना चाहिये कि नववें आदि देवलोकों में ही केवल शुक्ललेश्या है।"

उक्त विरोध के परिहार में श्री जयसोमसूरि का कथन, ध्यान देने योग्य है। उस कथन के अनुसार छठे आदि तीन देवलोकों में पद्म, शुक्ल दो लेश्याएँ और नववें आदि देवलोकों में केवल शुक्ल लेश्या मान लेने से उक्त विरोध हट जाता है।

सिवाय १०१ का, और दूसरे गुणस्थान में नपुंसक वेद, हुंड-संस्थान, मिथ्यात्व, सेवार्तसंहनन--इन ४ को छोड़ १०१ में से

अब यह प्रश्न होता है कि तत्त्वार्थ-भाष्य और संग्रहणी-सूत्र-जिसमें छट्ठे, सातवें और आठवें देवलोक में भी केवल शुक्ल लेश्या का ही उल्लेख है उसकी क्या गति? इसका समाधान यह करना चाहिये कि तत्त्वार्थ-भाष्य और संग्रहणी-सूत्र में जो कथन है वह बहुलता की अपेक्षा से। अर्थात् छट्ठे आदि तीन देवलोकों में शुक्ल लेश्या वालों की ही बहुलता है, इसलिये उन में पद्मलेश्या का सम्भव होने पर भी उसका कथन नहीं किया गया है। लोक में भी अनेक व्यवहार प्रधानता से होते हैं। अन्य जातियों के होते हुए भी जब ब्राह्मणों की बहुलायत होती है तब यही कहा जाता है कि यह ब्राह्मणों का ग्राम है।

उक्त समाधान का आश्रय लेने में श्री जयसोमसूरि का कथन सहायक है। इस प्रकार दिगम्बरीय ग्रन्थ भी उस सम्बन्ध में मार्गदर्शक हैं। इसलिये उक्त तत्त्वार्थ-भाष्य और संग्रहणी-सूत्र की व्याख्या को उदार बनाकर उक्त विरोध का परिहार कर लेना असंगत नहीं जान पड़ता।

टिप्पण में उल्लिखित ग्रन्थों के पाठ क्रमशः नीचे दिये जाते हैं:—

"शेषेषु लान्तकादिष्वासर्वार्थसिध्धा च्छुक्ललेश्याः"

(तत्त्वार्थ भाष्य)

"कप्पतिय पम्ह लेसा, लंताइसु सुक्कलेस हुंति सुरा"

(संग्रहणी गा. १७५)

शेप ६७ प्रकृतियों का है। तीसरे से लेकर तेरहवें तक प्रत्येक गुणस्थानमें वह बन्धाधिकार के समान है ॥ २२ ॥

"भव्य, अभव्य, संज्ञी, असंज्ञी और अनाहारक मार्गणा का बन्धस्वामित्व।"

सव्वगुण भव्वसन्निसु, ओहु अभव्वा असंनि मिच्छसमा।
सासणि असंनि सन्निव्व, कम्मणभंगो अणाहारे ॥२३॥

सर्वगुण भव्यसञ्ज्ञिष्वोघोऽभव्या असञ्ज्ञिनो मिथ्यासमाः।
सासादनेऽसंज्ञी संज्ञिवत्कार्मणभंगोऽनाहारे ॥ २३ ॥

अर्थ—सब (चौदह)गुणस्थान वाले भव्य और संज्ञियों का बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार के समान है। अभव्य और असंज्ञियों का बन्धस्वामित्व मिथ्यात्व मार्गणा के समान है। सास्वादन गुणस्थान में असंज्ञियों का बन्धस्वामित्व संज्ञी के

" कप्पित्थीसु ण तित्थं, सदरसहस्सारगोत्ति तिरियदुगं।
तिरियाऊ उज्जोवो, अत्थि तदो णत्थि सदरचऊ।"
(कर्मकाण्ड गा. ११२)

'सुक्के सदरचउक्कं वामंतिमबारसं च ण व अत्थि'
(कर्मकाण्ड गा. १२१)

" ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टेपु पद्मलेश्या। शुक्र महाशुक्रशतारसहस्रारेपु पद्मशुक्ललेश्याः।" (सर्वार्थसिद्धि)

समान है। अनाहारक मार्गणा का वन्धस्वामित्व कार्मण योग के वन्धस्वामित्व के समान है॥२३॥

भावार्थ

भव्य और संज्ञी—ये चौदह गुणस्थानों के अधिकारी हैं। इसलिये इनका वन्धस्वामित्व, सब गुणस्थानों के विषय में वन्धाधिकार के समान ही है।

अभव्य—ये पहिले गुणस्थान में ही वर्तमान होते हैं। इन में सम्यक्त्व और चारित्र की प्राप्ति न होने के कारण तीर्थंकर नामकर्म तथा आहारक-द्विक के वन्ध का सम्भव ही नहीं है। इसलिये ये सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म आदि उक्त तीन प्रकृतियों को छोड़कर १२० में से शेष ११७ प्रकृतियों के वन्ध के अधिकारी हैं।

असंज्ञी—ये पहिले दूसरे दो गुणस्थानों में वर्तमान पाये जाते हैं। पहिले गुणस्थान में इनका वन्धस्वामित्व मिथ्यात्व के समान है, पर दूसरे गुणस्थान में संज्ञी के समान; अर्थात् ये असंज्ञी, सामान्यरूप से तथा पहिले गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म आदि उक्त तीन प्रकृतियों को छोड़कर, शेष ११७ प्रकृतियों के वन्धाधिकारी हैं और दूसरे गुणस्थान में १०१ प्रकृतियों के।

अनाहारक—यह मार्गणा पहिले, दूसरे, चौथे, तेरहवें और चौदहवें—इन ५ गुणस्थानों में † पाई जाती है। इनमें से पहिला, दूसरा, चौथा ये तीन गुणस्थान उस समय होते हैं जिस समय कि जीव दूसरे स्थानमें पैदा होनेके लिये विग्रह गति से जाते हैं; उस समय एक दो या तीन समय पर्यन्त जीव को औदारिक आदि स्थूल शरीर नहीं होते इसलिये अनाहारक अवस्था रहती है। तेहरवें गुणस्थान में केवल समुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में अनाहारकत्व होता है। इस तरह चौदहवें गुणस्थान में भी योग का निरोध-अभाव-हो जाने से किसी तरह के आहार का सम्भव नहीं है। परन्तु चौदहवें गुणस्थान में तो वन्ध का सर्वथा अभाव ही है इसलिये शेष चार गुणस्थानों में अनाहारक के वन्धस्वामित्व का सम्भव है, जो कार्मणकाययोग के वन्धस्वामित्व के

† यथाः—"पढ़संतिमदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा।"
[चतुर्थ कर्मग्रन्थ. गाथा. २३]

यही बात गोम्मटसार में इस प्रकार कही गई है:—

"विग्गहगदिमावण्णा, केवलिणो समुग्घदो अजोगीय।
सिध्धा य अणाहारा, सेसा आहारया जीवा॥"
(जीव. गा. ६६५)

अर्थात् विग्रह-गति में वर्त्तमान जीव, समुद्घात वाले केवली, अयोगि-केवली और सिद्ध--ये अनाहारक हैं। इनके सिवाय शेष सब जीव आहारक हैं।

समान ही है। अर्थात् अनाहारक का बन्धस्वामित्व सामान्यरूप से ११२ प्रकृतियों का, पहले गुणस्थान में १०७ का, दूसरे में ६४ का, चौथे में ७५ का और तेरहवें में एक प्रकृति का है ॥२३॥

लेश्याओं में गुणस्थान का कथन।

तिसु दुसु सुक्काइ गुणा, चउ सग तेरत्ति बन्धसामित्तं।
देविंदसूरिलिहियं, नेयं कम्मत्थयं सोउं ॥ २४ ॥

तिसृषु द्वयोः शुक्लायां गुणाश्चत्वारः सप्त त्रयोदशेति बन्धस्वामित्वम्।
देवेन्द्रसूरिलिखितं ज्ञेयं कर्मस्तवं श्रुत्वा ॥ २४ ॥

अर्थ—पहली तीन लेश्याओं में चार गुणस्थान हैं। तेजः और पद्म दो लेश्याओं में पहिले सात गुणस्थान हैं। शुक्ल लेश्या में पहले तेरह गुणस्थान हैं। इस प्रकार यह 'बन्धस्वामित्व' नामक प्रकरण--जिसको श्री देवेन्द्रसूरि ने रचा है--उसका ज्ञान 'कर्मस्तव' नामक दूसरे कर्मग्रन्थ को जानकर करना चाहिये ॥ २४ ॥

भावार्थ—कृष्ण आदि पहली तीन लेश्याओं को ४ गुणस्थानों में ही मानने का आशय यह है कि ये लेश्याएँ अशुभ परिणामरूप होने से आगे के अन्य गुणस्थानों में पाई नहीं जा सकतीं। पिछली तीन लेश्याओं में से तेजः और पद्म ये दो शुभ हैं सही, पर उनकी शुभता शुक्ल लेश्या से बहुत

कम होती है। इससे वे दो लेश्याएँ सातवें गुणस्थान तक ही पायी जाती हैं। शुक्ल लेश्याका स्वरूप इतना शुभ हो सकता है कि वह तेरहवें गुणस्थान तक पायी जाती है।

इस प्रकरणका 'वन्धस्वामित्व' नाम, इसलिये रक्खा गया है कि इसमें मार्गणाओं के द्वारा जीवों की प्रकृति-वन्ध-सम्बन्धिनी योग्यता का—वन्धस्वामित्व का—विचार किया गया है।

इस प्रकरण में जैसे मार्गणाओं को लेकर जीवों के वन्धस्वामित्व का सामान्यरूप से विचार किया है, वैसे ही गुण स्थानों को लेकर विशेष रूप से भी उसका विचार किया गया है, इसलिये इस प्रकरण के जिज्ञासुओं को चाहिये कि वे इस को असंदिग्धरूप से जानने के लिये दूसरे कर्मग्रन्थ का ज्ञान पहले संपादन कर लेवें। क्योंकि दूसरे कर्मग्रन्थ के वन्धाधिकार में गुणस्थानों को लेकर प्रकृति-वन्ध का विचार किया है जो इस प्रकरण में भी आता है। अतएव इस प्रकरण में जगह जगह कह दिया है कि अमुक मार्गणा का वन्धस्वामित्व वन्धाधिकार के समान है।

इस गाथा में जैसे लेश्याओं में गुणस्थानों का कथन, वन्धस्वामित्व से अलग किया है वैसे अन्य मार्गणाओं में गुणस्थानों का कथन, वन्धस्वामित्व के कथन से अलग इस प्रकरण में कहीं नहीं किया है। इस का कारण इतना ही है कि अन्य मार्गणाओं में तो जितने जितने गुणस्थान चौथे कर्मग्रन्थ में दिखाये गये हैं उनमें कोई मत भेद नहीं है पर लेश्या के सम्बन्ध में ऐसा नहीं

है । § चौथे कर्मग्रन्थ के मतानुसार कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में ६ गुणस्थान हैं; परन्तु † इस तीसरे कर्मग्रन्थ के मतानुसार उनमें ४ ही गुणस्थान माने जाते हैं । अतएव उनमें बन्धस्वामित्व भी चार गुणस्थानों को लेकर ही वर्णन किया गया है ॥ २४ ॥

—इति बन्धस्वामित्व नामक तीसरा कर्मग्रन्थ—

§ यथाः—'अस्सन्निसु पढमदुगं, पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त ।'

अर्थात् असंज्ञी में पहले दो गुणस्थान हैं, कृष्ण आदि पहली तीन लेश्याओं में छः और तेजः तथा पद्म लेश्याओं में सात गुणस्थान हैं । (चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा. २३)

† कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में ४ गुणस्थान हैं यह मत, 'पंचसंग्रह' तथा 'प्राचीन बन्धस्वामित्व' के अनुसार हैः—

"छल्लेस्सा जाव सम्मोत्ति" [पंचसंग्रह १-३०]

"छच्चउसु तिण्णि तीसुं, छण्हं सुक्का अजोगी अलेस्सा"

[प्राचीन बन्धस्वामित्व, गा. ४०]

यही मत, गोम्मटसार को भी मान्य हैः—

"थावरकायप्पहुदी, अविरदसम्मोत्ति असुहतियलेस्सा ।
सण्णीदो अपमत्तो, जाव दु सुहतिण्णिलेस्साओ ॥"

[जीव. गा. ६९१]

अर्थात् पहली तीन अशुभ लेश्याएँ स्थावरकायसे लेकर चतुर्थ गुणस्थान-पर्यंत होती हैं और अंत की तीन शुभ लेश्याएँ संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त-पर्यंत होती हैं ।

परिशिष्ट क.

(१) गोम्मटसार के देखने योग्य स्थल—तीसरे कर्म-ग्रन्थ का विषय—गुणस्थान को लेकर मार्गणाओं में बन्धस्वामित्व का कथन—गोम्मटसार में है, जो कर्मकांड गा. १०५ से १२१ तक है। इसके जानने के लिये जिन बातों का ज्ञान पहले आवश्यक है उनका संकेत गा. ९४ से १०४ तक है।

गुणस्थान को लेकर मार्गणाओं में उदय-स्वामित्व का विचार, जो प्राचीन या नवीन तीसरे कर्मग्रन्थ में नहीं है वह गोम्मटसार में है। इस का प्रकरण कर्मकांड गा. २९० से ३३२ तक है। इस के लिये जिन संकेतों का जानना आवश्यक है वे गा. २६३ से २८९ तक में संगृहीत हैं। इस उदय-स्वामित्व के प्रकरण में उदीरणा-स्वामित्व का विचार भी सम्मिलित है।

गुणस्थान को लेकर मार्गणाओं में सत्ता-स्वामित्व का विचार भी गोम्मटसार में है, पर कर्मग्रन्थ में नहीं। यह प्रकरण कर्मकांड गा. ३४६ से ३५६ तक है। इस के संकेत गा. ३३३ से ३४५ तक में हैं।

(२) श्वेताम्बर-दिगम्बर संप्रदाय के समान-असमान कुछ मन्तव्य।

(१) कर्मग्रन्थ में तीसरे गुणस्थान में आयु का बन्ध नहीं माना जाता वैसा ही गोम्मटसारमें भी। गा. ८ की टिप्पणी पृ. १५।

(२) पृथिवीकाय आदि मार्गणाओं में दूसरे गुणस्थान में ६६ और ६४ प्रकृतियों का बन्ध, मत-भेद से, कर्मग्रन्थ में है। गोम्मटसार में केवल ६४ प्रकृतियों का बन्ध वर्णित है। गा. १२ की टिप्पणी पृ-३१-३२।

एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यंत चार इन्द्रिय मार्गणाओं में तथा पृथिवी जल और वनस्पति तीन कायमार्गणाओं में पहला दूसरा दो गुणस्थान कर्मग्रन्थ में माने हुए हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्ड को यही पक्ष सम्मत है; यह बात कर्म. गा. ११३-११५ तक का विषय देखने से स्पष्ट हो जाती है। परंतु सर्वार्थसिद्धिकार का इस विषय में भिन्न मत है; वे एकेन्द्रिय आदि उक्त चार इन्द्रियमार्गणाओं में और पृथिवीकाय आदि उक्त तीन कायमार्गणाओं में पहला ही गुणस्थान मानते हैं। (इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्; कायानुवादेन पृथिवीकायादिषु वनस्पतिकायान्तेषु एकमेव मिथ्यादृष्टिस्थानम्; तत्वार्थ अ. १ सू. ८ की सर्वार्थसिद्धि) सर्वार्थसिद्धि का यह मत गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. ६७७ में निर्दिष्ट है।

एकेन्द्रियों में गुणस्थान मानने के सम्बन्ध में श्वेताम्बर

संप्रदाय में दो पक्ष चले आते हैं। सैध्दान्तिक पक्ष सिर्फ पहला गुणस्थान (चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ४८) और कार्मग्रन्थिक पक्ष पहला दूसरा दो गुणस्थान मानता है (पंचसंग्रह द्वा. १-२८)। दिगम्बर संप्रदाय में यही दो पक्ष देखने में आते हैं। सर्वार्थसिध्धि और जीवकाण्ड में सैध्धान्तिक पक्ष तथा कर्मकाण्ड में कार्मग्रन्थिक पक्ष है।

(३) औदारिकमिश्रकाययोग मार्गणा में मिथ्यात्व गुणस्थान में १०९ प्रकृतियों का बन्ध जैसा कर्मग्रन्थ में है वैसा ही गोम्मटसार में। गा. १४ की टिप्पणी पृ. ३७--३९।

(४) औदारिकमिश्रकाययोग मार्गणा में सम्यक्त्वी को ७५ प्रकृतियों का बन्ध न होना चाहिये, किन्तु ७० प्रकृ-ि.ा क-, ऐसा टबाकार का मन्तव्य है। गोम्मटसार को यही मन्तव्य अभिमत है। गा. १५ की टिप्पणी पृ. ४०-४२।

(५) आहारकमिश्रकाययोग में ६३ प्रकृतियों का बन्ध कर्मग्रन्थ में माना हुआ है, परन्तु गोम्मटसार में ६२ प्रकृतियों का। गा. १५ की टिप्पणी पृ. ४५।

(६) कृष्ण आदि तीन लेश्या वाले सम्यक्त्वओं को सैद्धान्तिक दृष्टि से ७६ प्रकृतियों का बन्ध माना जाना चाहिये, जो कर्मग्रन्थ में ७७ का माना है। गोम्मटसार भी उक्त विषय में कर्मग्रन्थ के समान ही ७७ प्रकृतियों का बन्ध मानता है। गा. २१ की टिप्पणी पृ. ६२-६५।

(७) श्वेताम्बर संप्रदाय में देवलोक १२ माने हैं। (तत्त्वार्थ अ. ४-सू. २० का भाष्य), परंतु दिगम्बर संप्रदाय में १६। (तत्त्वार्थ अ. ४ सू. १८ की सर्वार्थसिद्धि)। श्वेताम्बर संप्रदाय के अनुसार सनत्कुमार से सहस्रार पर्यन्त छः देवलोक हैं, पर दिगम्बर संप्रदाय के अनुसार १०। इन में ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र, शतार ये चार देवलोक हैं, जो श्वेताम्बर संप्रदाय में नहीं माने जाते।

श्वेताम्बर संप्रदाय में तीसरे सनत्कुमार से लेकर पाँचवें ब्रह्मलोक पर्यन्त केवल पद्मलेश्या और छट्ठे लांतक से लेकर ऊपर के सब देवलोकों में शुक्ल लेश्या मानी जाती है। परन्तु दिगम्बर संप्रदाय में ऐसा नहीं। उसमें सनत्कुमार, माहेन्द्र दो देवलोकों में तेजो लेश्या, पद्म लेश्या; ब्रह्मलोक, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ इन चार देवलोकों में पद्म लेश्या; शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार चार देवलोकों में पद्म लेश्या तथा शुक्ल लेश्या और आनत आदि शेष सब देवलोकों में केवल शुक्ल लेश्या मानी जाती है।

कर्मग्रन्थ में तथा गोम्मटसार में शुक्ल लेश्या का क्षेत्र-स्वामित्व समान ही है। गा. २२ की टिप्पणी पृ. ६७-७०।

(८) तीसरे कर्मग्रन्थमें कृष्ण आदि तीन लेश्याएँ पहले चार गुणस्थानों में मानी हैं; गोम्मटसार और सर्वार्थ-सिद्धि में वही मत है। गा. २४ की टिप्पणी. पृ. ७५।

(६) गतित्रस—श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों संप्रदाय में तेजः कायिक वायुकायिक जीव, स्थावर नामकर्म के उदय के कारण स्थावर माने गये हैं, तथापि श्वेताम्बर साहित्य में अपेक्षा विशेष से उनको त्रस भी कहा है:—

"तेउ वाऊ अ बोधव्वा, उराला य तसा तहा।
इच्चेते तसा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे॥"

(उत्तराध्ययन अ. ३६ गा. १०७)

"तेजोवाय्वोश्च स्थावरनामकर्मोदयेऽप्युक्तरूपं त्रसनमस्तीति त्रसत्वं, द्विधा हि तत् गतितो, लब्धितश्च; तेजोवाय्वोर्गतित उदाराणां च लब्धितोऽपि त्रसत्वमिति।"

(टीका-वादिवेताल शांतिसूरि)

"तेजोवायूद्वीन्द्रियादयश्चत्रसाः।" (तत्वार्थ अ. २-१४)। त्रसत्वं च द्विविधं, क्रियातो लब्धितश्च। तत्र क्रिया कर्म चलनं देशान्तर प्राप्तिरतः क्रियां प्राप्य तेजो वाय्वोस्त्रसत्वं; लब्धिस्तु त्रसनामकर्मोदयो यस्माद् द्वीन्द्रियादीनां क्रिया च देशान्तरप्राप्ति लक्षणेति"। (तत्वार्थ अ. २-१४ भाष्य टीका)।

दुविहा खलु तसजीवा, लद्धितसा चेव गइतसा चेव
लद्धीय तेउवाऊ तेणऽहिगारो इहं नत्थि॥"

(आचारांग निर्युक्ति गा. १५३)

पंचामी स्थावराःस्थाव-राख्य कर्मोदयात्किल
हुताशमरुतौ तत्र, जिनैरुक्तौ गतित्रसौ॥' (लोक प्रकाश ४-२६.)

यह विचार जीवाभिगम में भी है।

यद्यपि तत्वार्थभाष्यटीका आदि में तेजः कायिक वायुकायिक को 'गतित्रस' और आचारांग निर्युक्ति तथा उसकी टीका में 'लब्धित्रस' कहा है तथापि गतित्रस लब्धित्रस इन दोनों शब्दों के तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का मतलब यह है कि तेजःकायिक वायुकायिक में द्वीन्द्रिय आदि की तरह त्रसनामकर्मोदय रूप त्रसत्व नहीं है, केवल गमन क्रिया रूप शक्ति होने से त्रसत्व माना जाता है; द्वीन्द्रिय आदि में तो त्रसनामकर्मोदय और गमनक्रिया उभय-रूप त्रसत्व है।

दिगम्बर साहित्य में सब जगह तेजःकायिक वायुकायिक को स्थावर ही कहा है, कहीं भी अपेक्षा विशेष से उनको त्रस नहीं कहा है। "पृथिव्यप्तेजो वायुवनस्पतयः स्थावराः।" तत्वार्थ अ० २-१३ तथा उस की सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक।

(३) पंचसंग्रह (श्री चन्द्रमहत्तर रचित).

(१) औदारिक मिश्रकाययोग के बन्ध में तिर्यंचायु और मनुष्यायु की गणना इस कर्मग्रन्थ की गा १४ वीं में की है। उक्त आयुओं का बन्ध मानने न मानने के विषय में टबाकारों ने शंका समाधान किया है, जिस का विचार टिप्पणी

पृ. ३७–३६ पर किया है। पंचसंग्रह इस विषय में कर्मग्रन्थ के समान उक्त दो आयुओं का बन्ध मानता है:—

" वेउव्विज्जुगे न आहारं।"

वंधइ न उरलमीसे, नरयतिगं छट्ठममराउं॥" (४–१५५)

टीका— " यत्तु तिर्यगायुर्मनुष्यायुस्तदल्पाध्यवसाययोग्यमिति तस्या मप्यवस्थायां तयो र्वन्धसंभवः।" (श्री मलयगिरि)

मूल तथा टीका का सारांश इतना ही है कि आहारकद्विक, नरक-त्रिक और देवायु इन छः प्रकृतियों के सिवाय ११४ प्रकृतियों का बन्ध, औदारिकमिश्रकाययोग में होता है। औदारिकमिश्रकाययोग के समय मनःपर्याप्ति पूर्ण न बन जाने के कारण ऐसे अध्यवसाय नहीं होते जिन से कि नरकायु तथा देवायु का बन्ध हो सकता है। इसलिये इन दो का बन्ध उक्त योग में भले ही न हो, पर तिर्यचायु और मनुष्यायु का बन्ध उक्त योग में होता है क्योंकि इन दो आयुओं के बन्ध-योग्य अध्यवसाय उक्त योग में पाये जा सकते हैं।

(२) आहारककाययोग में ६३ प्रकृतियों का बन्ध गा. १५ वीं में निर्दिष्ट है। इस विषय में पंचसंग्रहकार का मत भिन्न है। वे आहारक काययोग में ५७ प्रकृतियों का बन्ध मानते हैं—

" सगवन्ना तेवट्ठी, वंधइ आहार उभयेसु।" (४–१५६)

परिशिष्ट ख

कोष

अ

गाथा-अंक	प्राकृत	संस्कृत	हिन्दी
३	अण	अन	अनन्तानुबन्धि-चतुष्क
५	अणछब्बीस	अनषड्विंशति	अनन्तानुबन्धी आदि २६ प्रकृतियाँ
६	अजिनमणुआउ	अजिनमनुष्यायुष्	तीर्थंकर नामकर्म तथा मनुष्यायु छोड़ कर
७	अणचउवीस	अनचतुर्विंशति	अनन्तानुबन्धी आदि २४ प्रकृतियाँ
८	अणएकतीस	अनैकत्रिंशत्	अनन्तानुबन्धी आदि ३१ प्रकृतियाँ
९	अजय	अयत	अविरतसम्यग्दृष्टि जीव.
९	अपजत्त	अपर्याप्त	अपर्याप्त
११	अपज्ज	अपर्याप्त	अपर्याप्त

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१५	अणचउवीसाइ	अनचतुर्विंशत्यादि	अनन्तानुबन्धी आदि २४ प्रकृतियाँ
१७	अनाणतिग	अज्ञान-त्रिक	मति आदि तीन अज्ञान
१७	अचक्खु	अचक्षुष्	अचक्षुर्दर्शन
१७	अहखाय	यथाख्यात	यथाख्यातचारित्र
१८	अजयाइ	अयतादि	अविरतसम्यग्दृष्टि आदि
१९	अड	अष्टन्	आठ
२०	अजय गुण	अयत गुण	अयत गुणस्थान
२१	अट्ठारसय	अष्टादशशत	एक सौ अठारह
२२	अजिणाहार	अजिनाहारक	जिन नामकर्म तथा आहारक-द्विक रहित
२३	अभव्व	अभव्य	अभव्य
२३	असंनि	असंज्ञिन्	असंज्ञी
२३	अणाहार	अनाहारक	अनाहारक मार्गणा

आ

गा०	प्रा०	सं०	हि०
२	आहारदु	आहारक-द्विक	आहारक-द्विक नामकर्म
४	आयव	आतप	आतप नामकर्म
७	आहार	आहारक	आहारक द्विक-नामकर्म
११	आणयाइ	आनतादि	आनत आदि देवलोक
१४	आहार-छग	आहारक-षट्क	आहारक आदि छह प्रकृतियाँ
१५	आहार-दुग	आहारक-द्विक	आहारक तथा आहारक-मिश्रयोग
१६	आइम	आदिम	प्रथम
१८	आहारग	आहारक	आहारक मार्गणा
२०	आउ	आयुष्	आयु
२१	आहार-दुग	आहारक-द्विक	आहारक-द्विक नामकर्म
२१	आइलेसातिग	आदिलेश्यात्रिक	कृष्ण आदि तीन लेश्याएँ

इ

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३	इत्थि	स्त्री	स्त्री वेद नामकर्म
४	इगसउ	एकशत	एक सौ एक
५	इय	इति	इस प्रकार
६	इगनवई	एक नवति	एकानवे
१०	इगिंदितिग	एकेन्द्रिय-त्रिक	एकेन्द्रिय आदि तीन प्रकृतियाँ
११	इगिंदि	एकेन्द्रिय	एकेन्द्रिय मार्गणा
१६	इक्कार	एकादशन्	ग्यारह
२२	इदम् (इमाः)	इमाः	यह

उ

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३	उरलदुग	औदारिक-द्विक	औदारिक-द्विक नामकर्म
३	उज्जोअ	उद्योत	उद्योत नामकर्म

गा०	प्रा०	सं०	हि०
७	उच्च	उच्च	उच्च गोत्र
११	उज्जोअ-चउ	उद्योत-चतुष्क	उद्योत आदि चार प्रकृतियाँ
१३	उरल	औदारिक	औदारिक काययोग
१६	उवसम	उपशम	औपशमिक सम्यक्त्व
		ऊ	
२१	ऊण	ऊन	हीन
		ए	
२	एगिंदि	एकेन्द्रिय	एकेन्द्रियजाति नामकर्म
१०	एवं	एवं	इस प्रकार
		ओ	
४	ओह	ओघ	सामान्य
१८	ओहि दुग	अवधि-द्विक	अवधि-द्विक

क

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३	कुखग	कुखग	अशुभ विहायोगति नामकर्म
१०	कप्प-दुग	कल्प-द्विक	दो देवलोक
१२	केइ	केचित्	कोई
१५	कम्म	कार्मण	कार्मण काययोग
१८	केवलदुग	केवल-द्विक	केवल-द्विक
२३	कम्मण	कार्मण	कार्मण काययोग
२४	कम्मत्थय	कर्मस्तव	कर्मस्तव नामक प्रकरण

ख

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१६	खइअ	क्षायिक	क्षायिक सम्यक्त्व

ग

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१	गइआइ	गत्यादि	गति वगैरह

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
६	गुण	गुण	गुणस्थान
१३	गइतस	गतित्रस	तेजःकाय, वायुकाय
		च	
१२	चउनवइ	चतुर्नवति	चौरानवे
२४	चउदससअ	चतुर्दशशत	एकसौ चौदह
१७	चक्खु	चक्षुष्	चक्षुर्दर्शन
१७	चरम	चरम	अन्तिम
१७	चउ	चतुर्	चार
		छ	
२	छेवट्ठ	सेवार्त	सेवार्त संहनन नामकर्म
४	छनुइ	षण्णवति	छानवे
१२	छनवइ	षण्णवति	छानवे
१८	छेअ	छेद	छेदोपस्थापनीय चारित्र

ज

गा०	प्रा०	सं	हि०
१	जिणचन्द	जिनचन्द्र	जिनेश्वर
२	जिण	जिन	जिन नामकर्म
५	जुअ	युत	सहित
६	जिण-इक्कारस	जिनैकादशक	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियाँ
१०	जोइ	ज्योतिष्	ज्योतिषी देव
११	जल	जल	जलकाय
१२	जंति	यान्ति	पाते हैं
१३	जिणिक्कार	जिनैकादशक	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियाँ
१४	जिण-पणग	जिन-पंचक	जिन आदि पाँच प्रकृतियाँ
१५	जिण-पण	जिन-पंचक	जिन आदि पाँच प्रकृतियाँ
१५	जोगि	योगिन्	सयोगि-केवली
१८	जयाइ	यतादि	प्रमत-संयत आदि गुणस्थान

त

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३	तिरिदुग	तिर्यग्द्विक	तिर्यञ्च-द्विक
३	तिरिनराउ	तिर्यग्नरायुष्	तिर्यञ्चआयु तथा मनुष्यआयु
४	तित्थ	तीर्थ	तीर्थंकर नामकर्म
५	तित्थयर	तीर्थंकर	तिर्थंकर नामकर्म
७	तिरिय	तिर्यच्	तिर्यञ्च
११	तरु	तरु	वनस्पतिकाय
१२	तिरियनराउ	तिर्यग्नरायुष्	तिर्यञ्च-आयु तथा मनुष्यआयु
१२	तणुपज्जत्ति	तनुपर्याप्ति	शरीर पर्याप्ति
१३	तस	त्रस	त्रसकाय
१३	तम्मिस्स	तन्मिश्र	औदारिकमिश्रकाययोग
१६	तम्मिस्स	तान्मिश्र	वैक्रियमिश्रकाययोग
१६	तिय कसाय	तृतीय कषाय	तीसरा कषाय

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१७	ति	त्रि	तीन
१६	तेरस	त्रयोदशन्	तेरह
२०	तेण	तेन	इस से
२१	तं	तत्	वह
२२	तेउ	तेजस्	तेजो लेश्या
२४	तेर	त्रयोदशन्	तेरह
"	त्ति	इति	इस प्रकार
		थ	
२	थावर	स्थावर	स्थावर नामकर्म
३	थीणतिग	स्त्यानर्द्धि-त्रिक	स्त्यानर्द्धि-त्रिक
		द	
२	देवाउ	देवायुष्	देवायु कर्म
३	दुहग	दुर्भग	दुर्भग नामकर्म

गा०	प्रा०	सं०	हि०
८	देस	देश	देश विरति
६	देसाइ	देशादि	देशविरति आदि गुणस्थान
१७	दु	द्वि	दो
१७	दसं	दशन्	दस
१८	दुन्नि	द्वि	दो
१८	दो	द्वि	दो
२०	देवमणुआउ	देवमनुजायुष्	देव आयु तथा मनुष्य आयु
२४	देविंदसूरि	देवेन्द्रसूरि	देवेन्द्रसूरि
		न	
२	नरय	नरक	नरकगति नामकर्म
२	नपु	नपुंसक	नपुंसक वेद मोहनीय
३	निय	नीच	नीच गोत्रकर्म
३	नर	नर	मनुष्यगति नामकर्म

गा०	प्रा०	सं०	हि०
४	निरय	निरय	नारक
४	नपुचउ	नपुंसक-चतुष्क	नपुंसक-चतुष्क
५	नराउ	नरायुष्	मनुष्य आयु
६	नरदुग	नर-द्विक	मनुष्य-द्विक
६	नपुंसचउ	नपुंसक-चतुष्क	नपुंसक-चतुष्क
८	नरय-सोल	नरक-षोडशक	नरक गति आदि १६ प्रकृतियाँ
९	नर	नर	मनुष्य
९-११	नवसउ (य)	नवशत	एक सौ नव
१०	नवरं	नवरं	विशेष
१२	न	न	नहीं
१३	नर-तिग	नर-त्रिक	नर-त्रिक
१४	नरातिरिआउ	नरातिर्यगायुप्	मनुष्यआयु तथा तिर्यंच आयु
१६	नव	नवन्	नव

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१६	निय	निज	अपना
२२	नरय-नव	नरक-नवक	नरकगति आदि नव प्रकृतियाँ
२२	नरय-बार	नरक-द्वादशक	नरकगति आदि बारह प्रकृतियाँ
२४	नेय	ज्ञेय	जानने योग्य
		प	
५	पंकाइ	पंकादि	पंक आदि नरक
७	पज्ज	पर्याप्त	पर्याप्त
६	पर	पर	परन्तु
११	पुढवी	पृथिवी	पृथिवी-काय
१२	पुण	पुनर्	फिर
१३	पणिंदि	पंचेन्द्रिय	पंचेन्द्रिय
१६	पंच	पंचन्	पांच

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१७	पढमा	प्रथम	पहला
१८	परिहार	परिहार	परिहार विशुद्ध चारित्र
२२	पम्हा	पद्मा	पद्म लेश्या
		ब	
१	बन्ध-विहाण	बन्ध-विधान	बंधका का करना
१	बंधसामित्त	बन्ध-स्वामित्व	बन्धाधिकार
४	बंधहिं	बध्नन्ति	बाँधते हैं
५	बिसयरि	द्विसप्तति	बहत्तर
८	बीअ कसाय	द्वितीय कषाय	अप्रत्याख्यानावरण कषाय
१२	बिंति	ब्रुवन्ति	कहते हैं
१६	बिअ	द्वितीय	दूसरा
१७	बारस	द्वादशन्	बारह
२०	बंधंति	बध्नन्ति	बाँधते हैं

भ

गा०	प्रा०	सं०	हि०
५	भंग	भंग	प्रकार
१०	भवण	भवण	भवनपति देव
२३	भव्व	भव्य	भव्य

म

गा०	प्रा०	सं०	हि०
२	मिच्छ	मिथ्या	मिथ्यात्व मोहनीय
३	मज्झागिइ	मध्याकृति	बीचके संस्थान
४	मिच्छ	मिथ्या	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान
५	मीस	मिश्र	मिश्र गुणस्थान
७	मीस-दुग	मिश्र-द्विक	मिश्रदृष्टि तथा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान
१३	मणवयजोग	मनोवचोयोग	मन-योग तथा वचन-योग
१८०	मणनाण	मनोज्ञान	मनः पर्यायज्ञान

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१८	मइ-सुअ	मति-श्रुत	मति और श्रुतज्ञान
१९	मिच्छ-तिग	मिथ्यात्रिक	मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थान
२३	मिच्छ-सम	मिथ्या-सम	मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के तुल्य

र

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३	रिसह	ऋषभ	वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन
५	रयणाइ	रत्नादि	रत्नप्रभा आदि नरक
११	रयण	रत्न	रत्नप्रभा
१६	रहिअ	रहित	रहित

ल

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१७	लोभ	लोभ	लोभ कषाय मार्गणा
२४	लिहिय	लिखित	लिखा हुआ

व

गा० अं०	प्रा०	सं०	हिं०
१	विमुक्क	विमुक्त	मुक्त
१	वंदिय	वन्दित्वा	वन्दन कर के
१	वद्धमाण	वर्धमान	महावीर
१	वुच्छं	वक्ष्ये	कहूँगा
२	विउव	वैक्रिय	वैक्रिय
२	विगलतिग	विकलत्रिक	विकलत्रिक
४	वज्जं	वर्ज	छोड़ करके
४	विणा	विना	विना
५	विणा	विना	विना
७	विरहिअ	विरहित	रहित

गा०	प्रा०	सं	हि
१०	वि	अपि च	भी
१०	वण	वन	वाण व्यन्तर
१०	व्व	इव	यथा
११	विगल	विकल	विकलेन्द्रिय
१६	वेउव्व	वैक्रिय	वैक्रियकाययोग
१६	वेय-तिग	वेद-त्रिक	तीन वेद
१६	वेयग	वेदक	वेदक सम्यक्त्व
२०	वट्टंत	वर्तमान	वर्तमान

स

१	सिरि	श्री	श्री
१	समास	समास	संक्षेप
२	सुर	सुर	देवगति नामकर्म

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१०	सहिश्र	सहित	सहित
११	सणंकुमाराइ	सनत्कुमारादि	सनत्कुमार आदि देव लोक
१२	सुहमतेर	सूक्ष्म-त्रयोदशक	सूक्ष्म नामकर्म आदि तेरह प्रकृतियाँ
१५	साय	सात	सात-वेदनीय
१७	संजलण तिग	संज्वलन-त्रिक	संज्वलन क्रोध मान माया
१८	सग	सप्तन्	सात (७)
१८	समइश्र	सामायिक	सामायिक चारित्र
१६	सुहुम	सूक्ष्म	सूक्ष्म-संपराय चारित्र
१६	सठाण	स्वस्थान	अपना गुणस्थान
२१	साणाइ	सासादनादि	सास्वादन आदि गुणस्थान
२१	सव्व	सर्व	सब
२२	सुक्का	शुक्ला	शुक्ल लेश्या

गा०	प्रा०	सं०	हि०
२३	संनि	संज्ञिन्	संज्ञि मार्गणा
२४	सोउ	श्रुत्वा	सुन कर
		ह	
२	हुंड	हुंड	हुंडक स्थान
५	हीण	हीन	रहित

परिशिष्ट ग

'बन्धस्वामित्व' नामक तीसरे कर्मग्रन्थ की मूल गाथाएँ

बंधविहाणविमुक्कं, वंदिय सिरिवद्धमाणजिणचन्दं ।
गइयाईसुं वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं ॥ १ ॥

जिणसुर विउवाहारदु-देवाउ य नरयसुहुम विगलतिगं ।
एगिंदिथावरायव-नपुमिच्छं हुंडछेवट्ठं ॥ २ ॥

अणमज्झागिइ संघय-णकुखग नियइत्थिदुहग थीणतिगं ।
उज्जोयतिरिदुगं तिरि-नराउनरउरलदुगरिसहं ॥ ३ ॥

सुरइगुणवीसवज्जं, इगसउ ओहेण बंधहिं निरया ।
तित्थ विणा मिच्छि सयं, सासणि नपु-चउ विणा छनुई ॥ ४ ॥

विणु अण-छवीस मीसे, बिसयरि संमंमि जिणनराउजुया ।
इय रयणाइसु भंगो, पंकाइसु तित्थयरहीणो ॥ ५ ॥

अजिणमणुआउ ओहे, सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे ।
इगनवई सासाणे तिरिआउ नपुंसचउवज्जं ॥ ६ ॥

अणचउवीसविरहिआ, सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे ।
सतरसउ ओहि मिच्छे, पज्जतिरिया विणु जिणाहारं (र) ॥ ७ ॥

विणु नरयसोल सासणि, सुराउ अणएगतीस विणु मीसे ।
ससुराउ सयरि संमे, बीयकसाए विणा देसे ॥ ८ ॥

इय चउगुणेसु वि नरा, परमजया सजिण ओहु देसाई ।
जिणइक्कारसहीणं, नवसउ अपजत्ततिरियनरा ॥ ९ ॥

निरय व्व सुरा नवरं, ओहे मिच्छे इगिंदितिगसहिया ।
कप्पदुगे वि य एवं, जिणहीणो जोइभवणवणे ॥ १० ॥

रयणु व सणंकुमारा-इ आणयाई उज्जोयचउरहिया ।
अपज्जतिरिय व नवसय, मिगिंदिपुढविजलतरुविगले ॥ ११ ॥

छनवइ सासणि विणु सुहु-मतेर केइ पुण बिंति चउनवइं ।
तिरियनराऊहि विणा, तणु-पज्जत्तिं न ते जंति ॥ १२ ॥

ओहु पणिंदितसे गइ-तसे जिणिक्कारनरतिगुच्चविणा ।
मणवयजोगे ओहो, उरले नरभंगु तम्मिस्से ॥ १३ ॥

आहारछग विणोहे, चउदसउ मिच्छि जिणपणगहीणं ।
सासणि चउनवइ विणा, नरतिरिआऊ सुहुमतेर ॥ १४ ॥

अणचउवीसाइ विणा जिणपणजुय संमि जोगिणो सायं ।
विणु तिरिनराउ कम्मे, वि एवमाहारदुगि ओहो ॥ १५ ॥

सुरओहो वेउव्वे, तिरियनराउरहिओ य तम्मिस्से ।
वेयतिगाइमबियतिय-कसाय नवदुचउपंचगुणा ॥ १६ ॥

संजलणतिगे नव दस, ओहे चउ अजइ दुति अनाणतिगे ।
बारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अहखाय चरमचऊ ॥ १७ ॥

मणनाणि सग जयाई, समइयछेय चउ दुन्नि परिहारे ।
केवलदुगि दो चरमा-ऽजयाइ नव मइसुओहिदुगे ॥ १८ ॥

अड उवसमि चउ वेयगि, खइये इक्कार मिच्छतिगि देसे ।
सुहुमि सठाणं तेरस, आहारगि नियनियगुणोहो ॥ १९ ॥

परमुवसमि वट्टंता, आउ न बंधंति तेण अजयगुणे ।
देवमणुआउहीणो, देसाइसु पुण सुराउ विणा ॥ २० ॥

ओहे अट्ठारसयं, आहारदुगूण-माइलेसतिगे ।
तं तित्थोणं मिच्छे, साणाइसु सव्वहिं ओहो ॥ २१ ॥

तेऊ नरयनवूणा, उज्जोयचउनरयबारविणु सुक्का ।
विणु नरयबार पम्हा, अजिणाहारा इमा मिच्छे ॥ २२ ॥

सव्वगुण भव्व-संनिसु, ओहु अभव्वा असंनि मिच्छसमा ।
सासणि असंनि संनिव्व, कम्मणभंगो अणाहारे ॥२३॥

तिसु दुसु सुक्काइ गुणा, चउ सग तेरत्ति बन्धसामित्तं ।
देविंदसूरि लिहियं, नेयं कम्मत्थयं सोउं ॥२४॥

शुद्धिपत्र ।

पृष्ठ	पङ्कति	अशुद्धि	शुद्धि
१	१	सूरि विरिचित	सूरि-विरचित
२	१३	योगता	योग्यता
७	१	ग्रकृतियों	प्रकृतियों
१४	१२	पूर्वोक्त	पूर्वोक्त
८	१७	क्योंकि उक्त,	क्योंकि, उक्त
१५	१३	सवमिला	सब मिला
१५	१६	वचनात्	वचनात् ।
२६	२	नवसय	नवसय
२७	८	नतो	न तो
३३	१	विकलेन्द्रि	विकलेन्द्रिय
४०	१६	संद्देह	संदेह
४०	२३	शब्द	शब्द
४२	१८	अपयाप्त	अपर्याप्त
५६	१	स्वामित्त्व	स्वामित्व
६०	१४	से	सो
६३	२०	अयुा	आयु
६४	३	उद्यात	उद्योत
७१	११	तीर्थङ्कर	तीर्थङ्कर
१०४	१६	विगु	विगु

मण्डल की कुछ पुस्तकें।

(श्री आत्मारामजी महाराज-रचित)

१ तत्वनिर्णय प्रासाद ३)
२ सम्यक्त्व शल्योद्धार ॥=)
३ जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर॥)

श्री जिन विजयजी-रचित

४ विज्ञप्ति त्रिवेणि ... १)
५ शत्रुंजय तीर्थोद्धार ॥=)
६ जैनतत्वसार ... =)॥

(पं० व्रजलालजी-अनुवादित

७ नवतत्व ... ।-)
८ जीव विचार ... ≡)
९ वीतरागस्तोत्र ... ≡)
१० पहिला कर्मग्रन्थ १।), १।=)
११ दूसरा कर्मग्रन्थ ।॥), ॥=)
१२ तीसरा कर्मग्रन्थ ... ॥)

(पं० हंसराज जी-रचित)

१३ स्वामीदयानंद और जैनधर्म॥)
१४ नरमेध यज्ञ मीमांसा ...)।
१५ जैनास्तिकत्व मीमांसा)॥

(लाला कन्नोमलजी एम. ए.-रचित)

१६ उपनिषद् रहस्य ... =)॥
१७ व्याकरण बोध ... =)॥
१८ व्याकरण सार ... ।=)
१९ साहित्य संगीत ... ।=)
२० सामाजिक सुधार ... ≡)
२१ जैनतत्व मीमांसा ...)॥
२२ सप्तभंगीनय ... -)॥
२३ गीता दर्शन ... २)

(मुनि माणिक-कृत)

२४ त्रैलोक्यदीपिका ... ॥)
२५ कल्पसूत्र हिन्दी भाषान्तर १॥)
२६ भक्तामर और कल्याण मन्दिर अर्थ सहित ... =)
२७ भद्रबाहु और कल्पसूत्र =)

२८ दिव्य जीवन ... ।॥)
२९ स्वर्गीय जीवन ॥≡)
३० कुमार पाल चरित्र ... ।=)
३१ सदाचार शिक्षा ... ।-)

32 The Chicago Prashnottar ... 0—12—0
33 Some Distinguished Jains ... 0— 8—0
34 The study of Jainism ... 0—12—0
35 Lord Krishna's Message ... 0— 4—0
36 The Master Poets of India ... 0— 4—0